विदाई की बेला

(उपन्यास)

लेखक :

अध्यात्मरत्नाकर पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., बी.एड.

प्राचार्य, श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय

ए-४, बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५

फोन : (०१४१) २७०५५८१, २७०७४५८

हिन्दी :

प्रथम ग्यारह संस्करण (२६ जनवरी ९२ से अद्यतन)	:	६३ हजार ८००
बारहवाँ संस्करण (१९ जून, २००७)	:	३ हजार

मराठी :

प्रथम तीन संस्करण (२४ अक्टूबर, ९३ से अद्यतन)	:	११ हजार ३००
चतुर्थ संस्करण (१७ सितम्बर, २००५)	:	२ हजार

गुजराती :

प्रथम संस्करण (१२ नवम्बर, १९९३)	:	३ हजार ५००
द्वितीय संस्करण (१७ सितम्बर, २००५)	:	२ हजार

जैनपथ के सम्पादकीय में	:	३ हजार ५००
समाचार जगत (दैनिक) जयपुर से प्रकाशित	:	१ लाख २० हजार
कुल संख्या	:	**२ लाख ९ हजार १००**

मूल्य : १२ रुपए मात्र

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

प्रकाशकीय

(प्रथम संस्करण)

साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है; पर यह नहीं भूलना चाहिए कि साहित्य मात्र दर्पण नहीं, दीपक भी है, मार्गदर्शक भी है।

साहित्य के क्षेत्र में आज कथासाहित्य ही सर्वाधिक लोकप्रिय विधा है। सत्य और तथ्य को जन-जन तक पहुँचाने का इससे सशक्त और सुलभ माध्यम अभी तक कोई दूसरा विकसित नहीं हो सका।

जैन साहित्य में आज इसप्रकार के कथा साहित्य की महती आवश्यकता है, जो आधुनिक संदर्भ में उपयोगी हो और जैन तत्त्वज्ञान को जनरुचि के अनुरूप ऐसी सरल-सुबोध भाषा-शैली में प्रस्तुत करता हो, जिससे पाठक तत्त्वज्ञान से परिचित और प्रभावित हों तथा अध्यात्म को अंगीकार कर धर्मलाभ से लाभान्वित होते रहें। कथाशैली के माध्यम से कठिन से कठिन तात्त्विक सिद्धान्तों को भी सरलता से पाठकों तक पहुँचाया जा सकता है, उन्हें हृदयंगम कराया जा सकता है।

आज बड़े-बड़े ग्रन्थ पढ़ने का न तो किसी के पास समय है और न वैसी रुचि व बौद्धिक क्षमता है, जिससे सूक्ष्मतम सिद्धान्तों को हृदयंगम किया जा सके। इसकारण भी आज दार्शनिक सिद्धान्तों को कथाशैली में लिखा जाना आवश्यक प्रतीत होता है।

यद्यपि कथाशैली में लिखी गई आपकी यह द्वितीय पुस्तक है, पर मुझे विश्वास है कि उनकी यह द्वितीय कृति निश्चित रूप से अद्वितीय सिद्ध होगी।

'विदाई की बेला' प्रौढ़ और वृद्ध व्यक्तियों के लिए तो 'वरदान' रूप है ही, सामान्य पाठकों के लिए भी रोचक, ज्ञानवर्द्धक और अध्यात्म के अध्ययन की प्रेरणा देनेवाली कृति है।

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल की इस अत्यन्त उपयोगी कृति को प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। हमने एक वर्ष पहले १ जनवरी, १९९१ को आपकी सुप्रसिद्ध कथाकृति 'संस्कार' का प्रकाशन किया था। आपको यह जानकर सुखद आश्चर्य होगा कि इतनी अल्प अवधि में ही समाज में ऐसी लोकप्रियता प्राप्त की है कि उसके अनेक संस्करण प्रकाशित हो

चुके हैं और माँग ऐसी बनी हुई है कि समय पर पूर्ति कर पाना भी कठिन हो रहा है। पाठकों के साथ पत्र-पत्रिकाओं और समीक्षकों ने भी उसे खूब सराहा है।

हमें विश्वास है कि 'विदाई की बेला' भी समाज में इसी तरह समादृत होगी और पठन-पाठन में आयेगी। इसमें कथानक के माध्यम से जिन अध्यात्म को अपनाने की ऐसी मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रेरणा दी गई है कि पाठक का हृदय परिवर्तित हुए बिना नहीं रहेगा।

यद्यपि इसमें संन्यास व समाधि की चर्चा है, पर यह उस संन्यास व समाधि की बात है, जिसकी साधना-आराधना जीवन के उत्तरार्द्ध में या मृत्यु के समय नहीं, बल्कि जीवन के स्वर्णकाल में, घर-गृहस्थी में रहकर भी की जा सकती है और की जानी चाहिए। यह आबाल-वृद्ध सभी के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

इसके सुन्दर प्रकाशन के लिए श्री अखिल बंसल भी धन्यवाद के पात्र हैं।

दिनांक : १९ जनवरी १९९२ (प्रथम संस्करण) **– नेमीचन्द पाटनी**

महामंत्री – पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

प्रकाशकीय : हिन्दी का बारहवाँ संस्करण

यह सुखद आश्चर्य एवं प्रसन्नता का विषय है कि विगत तेरह वर्षों के अल्पकाल में इसके सत्रह संस्करण प्रकाशित करने का सौभाग्य हमें मिल चुका है। साथ ही दैनिक समाचार जगत पत्र ने भी इसकी विषयवस्तु से प्रभावित होकर इसे क्रमशः प्रकाशित किया है। जोकि एक लाख २० हजार छपता है।

यह भी गौरव की बात है कि हिन्दी के सिवाय मराठी में भी इसके चार संस्करण तथा गुजराती में दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। हिन्दी का यह ग्यारहवाँ संस्करण है।

इसप्रकार यह कृति अबतक कुल मिलाकर दो लाख नौ हजार की वृहद संख्या में प्रकाशित होकर जन-जन के हाथों में पहुँच चुकी है।

इसकी लोकप्रियता और उत्कृष्टता के लिए उपर्युक्त आँकड़े ही पर्याप्त हैं।

समय-समय पर समीक्षकों एवं पाठकों ने भी लेखक की अन्य कृतियों की भाँति इस कृति की भी दिल खोलकर सराहना की है। नवीन पाठकों की प्रेरणा हेतु कतिपय महत्त्वपूर्ण अभिमत पुस्तक के अन्त में प्रकाशित हैं।

दिनांक : २७ मई, २००७ **– ब्र. यशपाल जैन** *प्रकाशन मंत्री*

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

१.	श्रीमती चन्द्रावतीबाई हीरालालजी काला, बड़नगर	१,०००.००
२.	श्रीमती पुष्पाबाई मिश्रीलालजी वैद, बड़नगर	१,०००.००
३.	श्रीमती पुष्पाबाई पवनकुमारजी काला, बड़नगर	१,०००.००
४.	श्रीमती अनिताबाई नरेन्द्रजी पाटोदी, बड़नगर	१,०००.००
५.	श्री बाबूलाल तोतारामजी जैन, भुसावल	५०१.००
६.	श्रीमती पतासी देवी ध.प. श्री इन्द्रचंदजी पाटनी, लाडनूँ	५०१.००
७.	श्रीमती प्रभावती देवी पाटनी, जयपुर	५०१.००
८.	श्री नवरतनलालजी जैन, केलवाड़ा	५०१.००
९.	श्री भागचन्दजी जैन, केलवाड़ा	५०१.००
१०.	श्री बाबूलाल राजेन्द्रकुमारजी जैन, केलवाड़ा	५०१.००
११.	डॉ. राजमलजी जैन, कोलारस	५०१.००
१२.	श्री गुलाबचन्दजी पदमचंदजी जैन, पीसांगन	५०१.००
१३.	श्री छीतरमलजी जैन, पीसांगन	५०१.००
१४.	श्रीमती सरितादेवी मुसरफ तेजपुर	५०१.००
१५.	श्री महावीरकुमारजी जैन, जयपुर	५०१.००
१६.	जैन महिला मण्डल, लकड़वास	५०१.००
१७.	डॉ. अमरचन्दजी जैन, फुटेरा (दमोह)	५०१.००
१८.	श्री रामकिशन ताराचंदजी जैन, गुढ़ाचन्द्रजी	५०१.००
१९.	श्री नीरज जैन पुत्र श्री रामकुमारजी जैन, खतौली	५०१.००
२०.	श्रीमती सरला जैन ध.प. श्री रामकुमारजी जैन, खतौली	५०१.००
२१.	श्री राजेशकुमारजी जैन, खतौली	५०१.००
२२.	श्री माँगीलाल अर्जुनलालजी छाबड़ा, इन्दौर	२५१.००
२३.	श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	२५१.००
२४.	श्री अजितकुमार शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	२५१.००
२५.	श्री चन्द्रकान्त शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	२५१.००
२६.	श्री उदयकुमार शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	२५१.००
२७.	श्री मयूरभाई एम. सिंघवी, मुम्बई	२५१.००
२८.	श्रीमती रश्मिदेवी वीरेशजी कासलीवाल, सूरत	२५१.००
२९.	स्व. ऋषभकुमार जैन पुत्रश्री सुरेशकुमारजी जैन, पिड़ावा	२५१.००
३०.	श्री बाबूलालजी जैन, कुचड़ौद	२५१.००
३१.	ब्र. कुसुमताई पाटील, कुंभोज	२५१.००
३२.	श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध.प. श्री पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	२०१.००
३३.	श्रीमती नीलू ध.प. श्री राजेशकुमार मनोहरलालजी काला, इन्दौर	२०१.००
३४.	स्व. धापूदेवी ध.प. स्व. ताराचन्दजी गंगवाल की पुण्य स्मृति में, जयपुर	१५१.००
३५.	श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गोहाटी	१०१.००
	कुल राशि	**१५,६८१.००**

एक प्रेरक पत्र

Dr. Vishnu Saxena DAYAL CLINIC : TAHSHIL ROAD
GENERAL PHYSICIAN SIKANDRA RAO (ALIGARH) 204215
STD CODE : 05725 PHONE : 44380

श्रद्धेयास्पद

चरणवन्दन।

मेरे 'चरणवन्दन' लिखने पर आप अवश्य विस्मित होंगे। लेकिन आप मेरे लिए सर्वथा वन्दनीय इसलिए हैं कि एक तो आप मेरी पिता की आयु के हैं, दूसरे योग्यता में मुझ नगण्य से कई गुना अधिक हैं।

शायद आपको ध्यान हो मेरी आपकी भेंट गतवर्ष मेरठ में शाकाहार मेले में आयोजित कवि सम्मेलन मंच पर हुई थी। मैं भी एक कवि के रूप में बैठा था; तब आपने हम सभी कवियों को अपनी लिखी हुई कुछ पुस्तकें भेंट की थीं।

उन पुस्तकों को लाकर मैंने अपनी लाइब्रेरी में सजा दिया। सोचा कभी फुरसत होगी तो पढ़ूँगा। कवि सम्मेलनीय तथा चिकित्सकीय व्यस्तताओं में वर्ष भर उलझा रहा, बरसात में मैंने आपकी उन किताबों का अध्ययन किया। एक तो अभी भी पढ़ रहा हूँ।

पुस्तकें क्या हैं! ये तो ज्ञान का सहज भण्डार हैं। मैं तो जैनदर्शन से पहले से भी प्रभावित था। आपकी पुस्तकें पढ़ने के उपरान्त तो यह आस्था और अधिक बलवती हो गयी है। सभी पुस्तकें अत्यधिक सरल भाषा में लिखी गई हैं। जो जनसामान्य को भी संस्कारित करती हैं। जैन साहित्य के लिए आपकी ये पुस्तकें एक अनमोल निधि हैं। मैं कायस्थ कुल में पैदा अवश्य हुआ हूँ। लेकिन आरम्भ से ही कुछ ऐसा प्रभाव रहा कि कोई व्यसन पास नहीं आ सका।

आपके इस सद्लेखन के लिए, आपको बधाई! 'संस्कार', 'विदाई की बेला' बहुत ही प्रेरणादायी है। आदरणीय हुकमचन्दजी भारिल्ल की 'आप कुछ भी कहो' ने भी पूरे परिवार को झकझोर दिया। उन्हें भी मेरी बधाई प्रेषित कर दें।

आभार, शुभम् आपका ही...
आशा है सानन्द होंगे। डॉ. विष्णु सक्सेना

२४-८-९६

प्रति, विद्वत्वरेण्य पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल
प्राचार्य, श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय, जयपुर

लेखक के अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

मौलिक कृतियाँ	अब तक प्रकाशित प्रतियाँ	कीमत
०१. संस्कार (हिन्दी, मराठी, गुजराती)	५६ हजार ५००	१८.००
०२.विदाई की बेला (हिन्दी, मराठी, गुजराती)	१ लाख सात हजार	१२.००
०३. इन भावों का फल क्या होगा (हि. म., गु.)	४९ हजार	१८.००
०४. सुखी जीवन (हिन्दी) (नवीनतम कृति)	२३ हजार	१६.००
०५. णमोकार महामंत्र (हि., म., गु., क.)	६७ हजार ५००	६.००
०६. जिनपूजन रहस्य (हि.,म., गु., क.)	१ लाख ७९ हजार २००	४.००
०७. सामान्य श्रावकाचार (हि., म., गु.,क.)	७१ हजार २००	६.००
०८. पर से कुछ भी संबंध नहीं (हिन्दी)	८ हजार	७.००
०९. बालबोध पाठमाला भाग-१(हि.म.गु.क.त.अं.)	३ लाख ५२ हजार	२.००
१०. क्षत्रचूड़ामणि परिशीलन (नवीनतम)	८ हजार	३.००
११. समयसार : मनीषियों की दृष्टि में (हिन्दी)	३ हजार	४.००
१२. द्रव्यदृष्टि (नवीन संस्करण)	५ हजार	४.००
१३. हरिवंश कथा (दो संस्करण)	१० हजार	३०.००
१४. षट्कारक अनुशीलन	५ हजार	४.००
१५. शलाका पुरुष पूर्वार्द्ध (दो संस्करण)	७ हजार	२५.००
१६. शलाका पुरुष उत्तरार्द्ध (प्रथम संस्करण)	५ हजार	३०.००
१७. ऐसे क्या पाप किए (दो संस्करण)	८ हजार	१५.००
१८. नींव का पत्थर	५ हजार	१०.००
सम्पादित एवं अनूदित कृतियाँ (गुजराती से हिन्दी) –		
१९ से २९. प्रवचनरत्नाकर भाग - १ से ११ तक (सम्पूर्ण सेट)		१६०.००
३०. सम्यग्दर्शन प्रवचन		१५.००
३१. भक्तामर प्रवचन		१२.००
३२. समाधिशतक प्रवचन		२०.००
३३. पदार्थ विज्ञान (प्रवचनसार गाथा ९९ से १०२)		३.००
३४. गागर में सागर (प्रवचन)		७.००
३५. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में		३.००
३६. गुणस्थान-विवेचन		१८.००
३७. अहिंसा के पथ पर (कहानी संग्रह)		१०.००
३८. विचित्र महोत्सव (कहानी संग्रह)		११.००

१

सूर्य अस्ताचल की ओर ढल चला था और अपनी सिन्दूरी किरणों से गगनमंडल में लालिमा बिखेरता हुआ पश्चिम दिशा के पहाड़ी सौन्दर्य में चार चाँद लगा रहा था। वैसे पहाड़ी प्रदेश अपने आपमें भी कम सुन्दर नहीं था, पर सूर्य की किरणों से वह और भी आकर्षक लगने लगा था।

सूर्य ढल जाने से उसकी तपन से तो लोगों को मुक्ति मिल गई थी, उनका शारीरिक संताप तो कम हो गया था; पर मानसिक पीड़ा से वे अभी भी परेशान थे; क्योंकि विषय-कषाय व राग-द्वेष में रचे-पचे विभिन्न रुचियों वाले व्यक्तियों के एक साथ उठने-बैठने और साथ-साथ रहने से पारिवारिक परिवेश में पैदा हुई कषायों के कारण मनस्ताप हुए बिना नहीं रहता।

जिसप्रकार दो पत्थरों के आपस में टकराने में चिनगारियाँ निकलना स्वाभाविक हैं; उसीप्रकार जब दो व्यक्तियों के स्वार्थ और कषायें टकराती हैं तो राग-द्वेष की चिनगारियाँ निकलना भी स्वाभाविक ही हैं, जोकि मनस्ताप की जन्मदात्री हैं।

परिवार के बीच आखिर कोई कब तक मुँह पर मुसीका लगाये, मुँह बन्द किए, मौन से बैठा रह सकता है? यदि कोई चूप रहने की कोशिश करे भी तो वह भी तो उसकी नाराजगी का ही प्रतीक बन जाता है। अतः पारिवारिकजनों के बीच में व्यक्तियों का बोलना जरूरी भी है और मजबूरी भी।

जब एक स्थान पर रखे अचेतन बर्तन भी टकराने पर बिना बजे नहीं रह सकते तो सचेतन प्राणी बिना बोले कैसे रह सकते हैं? अतः बातें होना

स्वाभाविक है और बातों-बातों में बात का बढ़ जाना भी अस्वाभाविक नहीं है।

कभी-कभी तो अनचाहे ही बात यहाँ तक बढ़ जाती है कि लोग मैं-मैं, तू-तू पर उतर आते हैं, पुरखों तक पहुँच जाते हैं और फिर कषाय का चक्र इतनी तेजी से घूमता है कि न तो किसी को अपने छोटे-बड़ों का ही ध्यान रहता है और न किसी की मान-मर्यादा की परवाह ही। बस कुशल यह समझिए कि वे हाथापाई पर नहीं उतरते, अन्यथा वह भी असंभव नहीं है।

ऐसे प्रसंग एक बार नहीं, दिन भर में अनेक बार बनते-बिगड़ते रहते हैं; क्योंकि परिस्थितियों की पराधीनता, विषयों का अनुराग व मोह की मार उन्हें बारंबार समझौता करने को बाध्य करते रहते हैं। अतः समझौता भी होता रहता है और बोलचाल भी चालू हो जाती है।

इस तथ्य से इतना आश्वस्त तो हुआ ही जा सकता है कि ये लड़ाईयाँ लंबी चलने वाली लड़ाइयाँ नहीं हुआ करती हैं, पर इस कसमकश से भी तो लोग छुटकारा पाना चाहते हैं; भले ही थोड़ी देर को ही सही। इसलिए शाम होते ही सभी सेवानिवृत्त और वृद्ध व्यक्ति अपनी-अपनी मित्रमंडली के साथ और प्रौढ़ व युवक अपने-अपने परिवारों के साथ सैर-सपाटे के लिए बाग-बगीचों की ओर चल पड़ते।

-- -- --

उस दिन भी 'एक पंथ दो काज' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए प्रायः सभी लोग उस पहाड़ी की सौन्दर्य छटा देखने के लिए निकल पड़े थे। मेरे लिए वह स्थान एकदम नया था, अतः मैं भी उस पहाड़ी के सौन्दर्य की अनुपम छटा देखने का लोभ संवरण नहीं कर सका; इस कारण कोई साथी न मिलने पर भी मैं अकेला ही उस उपवन में जा पहुँचा, जहाँ से वह सूर्यास्त का दृश्य स्पष्ट दिखाई देता था। पाँच-सात मिनट में ही उस दृश्य को देखकर मैं उस सुरम्य उपवन में चिन्तन-मनन

और ध्यान करने योग्य शांत और एकांत जगह देखकर एक स्थान पर बैठ गया।

थोड़ी ही देर में दो वृद्ध व्यक्ति भी वहाँ आ पहुँचे और मुझसे केवल दस कदम की दूरी पर हरी-भरी दूब देख जमीन पर ही पैर पसार कर बैठ गये और कोसने लगे जमाने को। कभी महंगाई का रोना रोते तो कभी वर्तमान शिक्षा के दोषों पर दो-दो आँसू बहाते। कभी नेताओं के शिथिलाचार पर चर्चा करते, तो कभी नौकरशाही के भ्रष्टाचार पर आग-बबूला हो-होकर उनकी माँ-बहिन और बेटी से सीधा संपर्क करके अपनी जुबान को गंदा करने लगते। कभी अपने घर की दास्तान छेड़ देते तो कभी घर-घर की कहानियाँ लेकर बैठ जाते। इस तरह मुझे ऐसा लगा कि संभवतः वे लोग प्रतिदिन इसी तरह की बेबुनियाद बातों में अपना बहुमूल्य समय व्यतीत किया करते होंगे।

उस दिन भी घर-बाहर, राज-काज और अड़ौसी-पड़ौसी के गुण-दोष ही उनकी बातचीत और शोध-खोज के विषय बने हुए थे। मानों उनके पास इसके सिवाय करने के लिए अन्य कुछ काम ही नहीं था, विचार-विमर्श व बातें करने के लिए अन्य कोई विषय ही नहीं था।

''भला जिनके पैर कब्र में लटके हों, जिनको यमराज का बुलावा आ गया हो, जिनके सिर के सफेद बाल मृत्यु का संदेश लेकर आ धमके हों, जिनके अंग-अंग ने जवाब दे दिया हो, जो केवल कुछ ही दिनों के मेहमान रह गये हों, परिजन-पुरजन भी जिनकी चिर विदाई की मानसिकता बना चुके हों, अपनी अन्तिम विदाई के इन महत्वपूर्ण क्षणों में भी क्या उन्हें अपने परलोक के विषय में विचार करने के बजाय इन व्यर्थ की बातों के लिए समय हैं?'' - यह सोच-सोच कर मेरा मन व्यथित होने लगा।

मेरा तत्त्व-चिन्तन और आत्मा-परमात्मा का ध्यान करने का विचार तो एक ओर धरा रह गया, मेरे मन में नाना विकल्प उठने लगे - ''आखिर

कैसे समझाया जाये इन वृद्धजनों को कि तुम अपना अमूल्य समय इन व्यर्थ की बातों में बर्बाद क्यों कर रहे हो? पहाड़ से अपना माथा क्यों मार रहे हो? इन बातों से दुनियाँ में तो कोई परिवर्तन होने वाला है नहीं, तुम्हारा ही मनुष्यभव बिगड़ जायेगा। क्या तुम्हारे ये सारे विकल्प निरर्थक नहीं हैं? यहाँ बैठकर इन बातों से क्या सार निकलने वाला है? यह तो ऐसा अरण्य रुदन है, जिसे पशु-पक्षी और जंगल के जानवरों के सिवाय और कोई नहीं सुनता। यह न केवल समय की बर्बादी है, बल्कि इन बातों में आर्त-रौद्ररूप खोटा ध्यान होने से ये बातें कुगति की कारण भी हैं।''

''वैसे भी सभी का यह कर्तव्य है कि वे ज्ञाता-दृष्टा रहें; क्योंकि सभी को शांत व सुखी होना है, आनंद से रहना है। पर वृद्धजनों का तो अब एक मात्र यही मुख्य कर्तव्य रह गया है कि जो भी हो रहा है, वे उसके केवल ज्ञाता-दृष्टा रहें; उसमें रुचि न लें, राग-द्वेष न करें। क्योंकि वृद्धजन यदि अब भी सच्चे सुख का उपाय नहीं अपनायेंगे तो कब अपनायेंगे? फिर उन्हें यह स्वर्ण अवसर कब मिलेगा? उनका तो अब अपने अगले जन्म-जन्मान्तरों के बारे में विचार करने का समय आ ही गया है, वे उसके बारे में क्यों नहीं सोचते?

इस जीवन को सुखी बनाने और जगत को सुधारने में उन्होंने अब तक क्या कुछ नहीं किया? बचपन, जवानी और बुढ़ापा - तीनों अवस्थाएँ इसी उधेड़-बुन में ही तो बिताई हैं, पर हुआ क्या? जो कुछ किया, वे सब रेत के घरोंदे ही तो साबित हुए, जो बनाते-बनाते ही ढह गये और हम बस हाथ मलते रह गये; फिर भी इन सबसे वैराग्य क्यों नहीं आया?'' - यही विचार करते-करते मेरा पूरा एक घंटा कब-कैसे बीत गया, वे लोग कब उठ कर चले गये - कुछ पता ही नहीं लगा। मैं उनसे कुछ कहना चाहता था, पर कह नहीं पाया। मन की बात मन में संजोये मैं अपने निवास पर लौट आया। ●

२

दूसरे दिन मैं उसी बैंच पर बैठा हुआ वैचारिक उड़ानें भर-भर कर किसी कल्पनालोक में विचर रहा था कि न जाने वे दोनों कब आकर मेरे सामने वाली बैंच पर बैठ गए और लगे अपने अतीत जीवन की पुस्तक के पृष्ठ पलटने।

ज्योंही उनकी आवाज ऊँची हुई कि मेरा ध्यान भंग हो गया। यद्यपि उन्हें मेरी उपस्थिति का न तो कोई आभास ही था और न मुझ से कोई सरोकार ही; पर मुझे उनकी बातों में गहरी दिलचस्पी थी; क्योंकि बिना भोगे-भुगते ही उनके जीवन के अनुभूत खट्टे-मीठे व कड़वे अनुभवों का लाभ मुझे मिल रहा था। वे दिल खोल बोले जा रहे थे और मेरा मन उनकी बातें सुन-सुनकर विचार वीथियों में विचरण कर रहा था।

मुझे वही बैठे-बैठे उनकी सब बातें स्पष्ट सुनाई दे रही थी। आज उनकी बातचीत का विषय रोचक था, मनोरंजक था। वे दोनों अपन-अपनी आलोचना कर रहे थे, अपने-अपने दोषों की समीक्षा कर रहे थे। अतः मैं उनकी बातों को विशेष ध्यान से सुनने लगा।

पहला वृद्ध बोल रहा था - ''बंधु! यद्यपि मेरा नाम सदासुखी है, पर मैंने जीवनभर दुःख ही दुःख भोगा है; पता नहीं, ज्योतिषीजी ने मेरा नाम 'सदासुखी' क्या सोचकर रखा होगा?''

दूसरे वृद्ध ने भी अपने मित्र सदासुखी की हाँ में हाँ मिलाते हुए कहा - ''तुम ठीक कहते हो, ये ज्योतिषी भी क्या बला हैं? देखो न! किसी ज्योतिषी ने मेरा नाम भी 'विवेकी' रख दिया, जबकि मेरे जीवन में अब तक मुझसे एक भी काम विवेक का नहीं हुआ। मेरा हर कदम अविवेक

का ही रहा। पहली गलती तो मुझसे यही हुई कि मैंने अपने परिवार नियोजन पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया और एक के बाद एक करके सात संतानें हो गईं। इस कारण एक का भी न ढंग से लालन-पालन ही हो सका और न देख-रेख ही। भला कोई अकेला आदमी सात-सात संतानों को कैसे संभाल सकता है? धंधा-पानी देखे या उनकी देख-रेख करें? और घरवाली तो बेचारी घर के काम से ही नहीं निबट पाती, चूल्हे-चक्की में ही अटकी रहती है।

दूसरे, मैं स्वयं भी अधिक नहीं पढ़ सका और अपनी संतानों को भी कोई विशेष पढ़ाया-लिखाया नहीं। धंधा भी चुना तो ऐसा कि जीवन भर मरने को ही फुरसत नहीं मिली। हलवाई और होटल का धंधा भी कोई धंधा है? यद्यपि इस धंधे में धरम के दूने होते हैं, पर ऐसी कमाई किस काम की, जिसमें हिंसा ही हिंसा हो और लोगों के स्वास्थ्य के साथ खिलवाड़ करना पड़े?''

सदासुखी ने पूछा - ''स्वास्थ्य के साथ खिलवाड़ कैसी?''

विवेकी ने उत्तर दिया - ''अरे भाई! यह धंधा ही खोटा है, जब बासी-सड़ी-बुसी मिठाई बच जाती है, तो हम लोग फिर से उसी मिठाई में कुछ ताजा मिष्टान्न मिलाकर पुनः नया रूप देकर उसे थालों में सजाकर रख देते हैं और ताजे मिष्टान्न के नाम पर उसे बेच देते हैं, महीनों का मैदा-बेसन तथा सस्ते से सस्ता घटिया घी-तेल वगैरह काम में लेना पड़ता है। कम्पीटिशन का जमाना है न? अतः इस पापी पेट के लिए सब उल्टे-सीधे काम करने पड़ते हैं। सच पूछा जाए तो भले आदमियों के तो खाने लायक ही नहीं होती ये मिठाइयाँ; पर क्या करें? अन्य कोई उपाय भी तो नहीं। प्रातः पाँच बजे से रात्रि के ग्यारह-बारह बजे तक दुकान पर इतनी कठिन ड्यूटी देनी पड़ती कि न सुबह पूजा-पाठ को समय और न शाम

को स्वाध्याय एवं मनन-चिन्तन की फुरसत। सारा जीवन यों ही कोल्हू के बैल की तरह काम-काज में जुते-जुते निकाल दिया।

-- -- --

चाहे इसे मानवीय मनोविज्ञान कहो या मानवीय कमजोरी, पर यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि अधिकांश व्यक्ति दूसरों की घटनायें सुनते-सुनते स्वयं अपने जीवन की घटनाएँ सुनाने को उत्सुक ही नहीं, आतुर तक हो उठते हैं और कभी-कभी तो भावुकतावश न कहने योग्य बातें भी कह जाते हैं, जिनसे वाद-विवाद बढ़ने की संभावना हो, झगड़े की संभावना होना, ऐसी बातें कहने से भी अपने को रोक नहीं पाते।

सदासुखी के साथ भी यही हुआ। वह भी विवेकी की बातें सुनकर अपने जीवन की एक दुःखद घटना सुनाने से स्वयं को नहीं रोक सका।

घटना की भूमिका बनाते हुए उसने कहा - ''इसमें कोई संदेह नहीं कि राष्ट्रहित, परिवार-कल्याण और आत्मोद्धार की दृष्टि से परिवार बढ़ा लेने और आजीविका के चुनाव करने में तुम से भूल हुई है; पर पारिवारिक और आर्थिक परिस्थितियों वश ये भूलें होना अस्वाभाविक नहीं है, इनसे तुम्हें पश्चाताप और दुःख तो हो सकता है, पर ये लोकनिंद्य व दंडनीय अपराधों की श्रेणी में नहीं आतीं।

भाई! मुझसे तो जीवन में एक ऐसा अक्षम्य अपराध बन गया है, जिसे स्वयं मैं भी युगों-युगों तक नहीं भूल सकूँगा और उस अपराध के लिए मेरे बेटे मुझे कितना भी कष्ट क्यों न दें, मैं उसे अपने अपराध का प्रायश्चित्त मानकर खुशी-खुशी सहता रहूँगा। बस, इसी कारण मुझ पर हो रहे अपने बेटों के दुर्व्यवहार का मुझे कोई दुःख-दर्द नहीं है।''

मैं सोचता हूँ - ''अच्छा हुआ, मेरे अपराध का दंड मुझे इसी जन्म में मिल रहा है। जिन लोगों ने मेरे माता-पिता की एवं मेरी - दोनों पीढ़ियाँ देखीं हैं, उन्होंने मेरी इस घटना से अवश्य ही शिक्षा ली होगी।

मैं अपने उस अपराध को चिल्ला-चिल्लाकर कहना चाहता हूँ, ताकि भविष्य की पीढ़ियाँ भी उससे सबक सीख सकें। फिर कोई भी व्यक्ति अपने पूज्य माता-पिता के साथ मुझ जैसा जघन्य अपराध न करे।''

विवेकी ने कहा - ''कुछ कहोगे भी या यों ही पहेलियाँ बुझाते रहोगे?''

सदासुखी बोला - ''हाँ, हाँ, कहूँगा; अवश्य कहूँगा और जोर-जोर से कहूँगा, ताकि सारा जगत सुने और शिक्षा ले। पर पहले....।''

विवेकी समझ गया कि जबतक इसके मन की भड़ास पूरी तरह नहीं निकल जायेगी, जबतक यह अपने मन के गुब्बार निकालकर सहज नहीं हो पायेगा, तबतक वह घटना नहीं सुना पायेगा; अतः उसने जो कुछ कहा, सब चुपचाप सुनता रहा।

सदासुखी ने अपनी बात जारी रखते हुए आगे कहा - ''भाई! केवल नाम सदासुखी रखने से थोड़े ही कोई सुखी हो जाता है, सुख-शान्ति प्राप्त करने के लिए हमें काम भी ऐसा करना चाहिए, जिससे सुख की प्राप्ति हो। मैंने अपने जीवन में ऐसा कोई काम ही नहीं किया। मैं तो दिन-रात एकमात्र पैसा कमाने के चक्कर में ही पड़ा रहा। वस्तुतः मैं ऐसा मान बैठा था कि पैसा ही सब सुखों का साधन है, पैसे से सब सुख पाये जा सकते हैं, पर अब मेरा यह भ्रम दूर हो गया है; पैसा बहुत कुछ हो सकता है, पर सब कुछ नहीं। अब मैं स्वयं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि आज मेरे पास क्या नहीं है? करोड़ों की चल-अचल संपत्ति, अटूट आमदनी के स्रोत; पर पाप का उदय आते ही वह सब संपत्ति देखते ही देखते विपत्ति बन गई है। कोई एक बात हो तो बताऊँ, क्या-क्या कहूँ? कभी फुरसत में शान्ति से बैठेंगे, तब सब सुनाऊँगा। अभी मेरे मन में हलचल है, अशान्ति है।

आज हम अपने बेटों से सेवा की आशा और सद्व्यवहार की

अपेक्षा रखते हैं, पर हमें यह भी तो सोचना चाहिए कि कभी हम भी किसी के बेटे थे, क्या हमारे माता-पिता भी हमसे यही आशा/अपेक्षा नहीं रखते होंगे?

हृदय पर हाथ रखकर हम अपनी अन्तरात्मा से पूछें कि हमने उनके साथ कैसा व्यवहार किया, कितनी सेवा की, उनके किन-किन अरमानों को पूरा किया, हम कितने आज्ञाकारी रहे उनके? यदि उत्तर नकारात्मक रहे तो फिर हमें भी अपने बेटों से ऐसी कोई आशा/अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए।

बेटे तो प्रायः माँ-बाप का ही अनुकरण करते हैं न? वे जैसा बचपन में देखते रहते हैं, वैसा ही तो सोचते हैं; क्योंकि बालकों का तो स्वभाव ही अनुकरणीय होता है।''

सदासुखी के इस लम्बे भाषण ने विवेकी की जिज्ञासा को और भी अधिक जगा दिया। अतः उसने अधीर होकर कहा - ''भाई सदासुखी! यह सब तो ठीक है, तुम्हारी एक-एक बात लाख-लाख की है, पर वह मूल बात तो कहो, जिसके लिए तुम यह इतनी लम्बी-चौड़ी भूमिका बना रहे हो। आखिर ऐसा क्या अनर्थ हो गया, जिसका तुम्हें इतना पश्चाताप हो रहा है?''

सदासुखी ने कहा - ''भाई! यह बात तो पश्चाताप जैसी है ही, साथ ही दूसरा दुःख इस बात का है कि उनके जीते-जी मुझे अपनी इतनी बड़ी भूल समझ में नहीं आई; अन्यथा मैं तभी अपने पश्चाताप के इन आँसुओं से उनके चरण पखार कर अपने उस अपराध को कुछ कम तो कर ही सकता था।'' - यह कहते-कहते सदासुखी औरतों की तरह जोर-जोर से फूट-फूट कर रो पड़ा।

सदासुखी को अत्यधिक भावुक देखकर विवेकी ने कहा - ''भाई! बीती बातों को याद कर-कर के अब इस तरह आँसू बहाने से कोई लाभ नहीं। अब तो उन बीती बातों को भूलने में ही सार हैं।

किसी ने ठीक ही तो कहा है –

'बीती ताहि बिसार दे, आगे की सुध लेय'

''भूल की पुनरावृत्ति न होने देना ही भूल का सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है। अतः भूल को भूल जाओ, वर्तमान को संभालो, भविष्य स्वयं संभल जायेगा।''

सदासुखी ने अपने आँसू पोंछते हुए कहा – ''पुनरावृत्ति का तो अब प्रश्न ही नहीं, पर·····।''

''पर क्या'' – विवेकी ने कहा।

सदासुखी ने कहा – ''यही कि अब तो वे इस दुनिया में ही नहीं हैं।''

''न सही यहाँ, वे जहाँ भी होंगे, सुखी होंगे; क्योंकि जिनका मरण शान्त भावों से होता है, समतापूर्वक होता है; वे तो हमेशा सुखी ही रहते हैं।'' विवेकी ने आगे कहा – ''तुम्हारे ही कहे अनुसार तुम्हारे माता-पिता का मरण भी समतापूर्वक हुआ है, शान्त भावों से हुआ है। अतः वे भी निश्चित ही उत्तम गति को प्राप्त हुए होंगे।

मैं तो तुम्हारी उस घटना को जानना चाहता हूँ, जिसके कारण तुम इतने दुःखी हो, यदि तुम्हें असुविधा न हो तो कहो। उसे कह देने से तुम्हारा जी भी हल्का हो जाएगा और हो सकता है मुझे भी कुछ नवीन सीखने को मिल जाय।''

सदासुखी ने दुःखी मन से अपनी कहानी कहना प्रारंभ किया – ''मैं अपने माता-पिता का इकलौता पुत्र था, इस कारण उनके भविष्य की आशा भी एकमात्र मैं ही था। उन्होंने मुझसे बहुत सारी आशायें लगा रखी थीं, नाना प्रकार के सुनहरे स्वप्न संजो रखे थे। अतः वे भी मेरी सभी आकाक्षाएँ पूरी करने में सदैव तत्पर रहते थे। घर में पैसे की कमी तो तब

भी नहीं थी सो जब जो चाहा तत्काल मिलता रहा। पर इसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ। एक बड़े बाप के इकलौते बेटे में जिन दुर्गुणों के आ जाने की संभावना रहती है, वे सब दुर्गुण धीरे-धीरे मुझमें भी आ गए।

जैसे-जैसे समय बीतता गया, वे वृद्ध होते चले गये और मैं युवा। उनका ग्रामीण रहन-सहन था और मुझे नये जमाने की हवा लग चुकी थी। फिर भी पिताजी ने कल-कारखानों का संपूर्ण कारोबार मेरे हाथों में सौंप दिया था और माताजी ने घर की सब चाबियाँ मेरी धर्मपत्नी को सम्हला दी थी। इसके बाद तो वे माता-पिता के नाते हम लोगों को केवल सही सलाह देने की पवित्र भावना से ही बात किया करते थे। पिताजी मुझे नेक सलाह देने की सद्भावना से अपने जीवन का अमूल्य समय ऑफिस में आकर बिताते थे और माताजी मेरी पत्नी को अपने जीवन भर के अनुभवों का लाभ देना चाहती थी, अतः बीमारी की हालत में भी चौके में पहुँच कर नये-नये व्यंजन बनाकर बताना चाहती थी; पर उस समय हमारी बुद्धि पर ऐसे पत्थर पड़ गये थे कि हमने उनकी भावनाओं की कोई कदर नहीं की, उल्टा उनकी पवित्र भावनाओं का अनादर ही किया।

एक बार तो हमारे द्वारा उनके प्रति ऐसा अक्षम्य अपराध बन गया था कि न वे उसे जीवन भर भूल पाये और न हम ही उसे आजीवन भूल सकेंगे।''

विवेकी ने पूछा – ''ऐसी क्या भूल हुई जिसे तुम कभी नहीं भूल सकते?''

सदासुखी ने पश्चाताप के आँसुओं से अपने अपराध का प्रक्षालन करते हुए कहा – ''बात यों हुई, पिताजी प्रायः देहाती पोषाक में धोती-कुर्ता पहिने एवं सिर पर साफा (पगड़ी) बाँधे कुर्सी पर पाँव रखे बैठे रहते थे। मेरे मित्र आते और मुझसे पूछते कि इस देहाती बूढ़े को हम कई दिनों

से यहाँ इसी प्रकार बैठा देखते हैं, यह कौन है?

पहले एक-दो दिन तो मैं यों ही बातों-बातों में टाल गया, पर प्रतिदिन कोई न कोई पूछे तो कहाँ तक टाला जा सकता था? और उनके ग्रामीण रहन-सहन के कारण मेरे हृदय में हीन भावना तो जागृत हो ही गई थी, अतः मैंने यह कहना प्रारंभ कर दिया कि - यह हमारे पिताजी के पुराने जमाने का नौकर है, बूढ़ा हो गया सो अब बेचारा जाए तो कहाँ जाए? इस कारण दोनों समय घर पर भोजन करता है और आराम से यहाँ बैठा रहता है। इसने जिन्दगी भर हमारी सेवा की तो अपना भी तो कुछ कर्तव्य बनता है न?''

यह बात जब पिताजी ने सुनी तो वे मन ही मन बहुत दुःखी हुए और उन्होंने कारखाने के ऑफिस में आना ही बंद कर दिया।

इधर घर पर घरेलू कामों में माताजी के हस्तक्षेप से मेरी पत्नी भी परेशान थी। अतः एक दिन जब उसने मेरा मूढ़ अच्छा देखा, मुझे प्रसन्न चित्त देखा तो भोजन करते समय वह बोली - ''क्योंजी, क्यों न माताजी व पिताजी की खटिया ऊपर के कमरे में डाल दी जाये, ताकि उनकी यह रोज-रोज की चिक-चिक ही समाप्त हो जाये। 'फिर न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी।'

मैं तो उनकी बिना काम की बातों से परेशान हो गई हूँ। दिन भर कुछ न कुछ कहती ही रहती हैं।

और हाँ, सुनो! कुम्हार से कह दिया जाय कि वह मिट्टी के चौड़े से दो बर्तन प्रतिदिन दे जाया करे, जिनमें इन्हें दोनों समय का भोजन पप्पू के हाथ से भेज दिया करूँगी। उनके जूठे बर्तन रोज-रोज कौन साफ करें? पप्पू से कह देंगे सो वह उनके जूठे बर्तन फैंक दिया करेगा।''

मुझे प्रश्नसूचक गंभीर मुद्रा में देखकर मेरी पत्नी ने अपनी बात जारी रखते हुए आगे कहा - ''मुझे एक सबसे बड़ी समस्या यह भी है कि यहाँ

बैठक में एक तो इनके कारण पूरी सफाई नहीं रह पाती, दूसरे, जो भी मिलने-जुलने आता है, वही पूछता है - यह देहातिन-सी बूढ़ी औरत कौन हैं? आप ही बताइए - मैं रोज-रोज क्या जवाब दूँ? मैं तो यह कहते-कहते थक गई हूँ कि यह हमारी सासूजी के जमाने की नौकरानी है, जिन्दगी भर यहाँ रही, अब कहाँ जाए? यद्यपि इससे अब काम करते नहीं बनता, फिर भी बेचारी से जो भी बनता है, दिन भर करती ही रहती है। चार रोटियाँ, चार कपड़े और चार हाथ जगह ही तो चाहिए इसे।'' इस तरह बातें बनाकर उनसे बड़ी मुश्किल से जान छुड़ा पाती हूँ।''

उसकी बात सुनकर मुझे जीवन में उस दिन पहली बार ऐसा लगा कि ''वाह! इसमें भी कुछ अकल तो है ही, जो उपाय मैंने सोचा, वही इसने भी ···।''

सदासुखी ने अपनी आपबीती कहानी सुनाते हुए आगे कहा - ''उस समय उसकी यह बात मुझे भी जँच गई और हम दोनों ने मिलकर यह व्यवस्था कर दी।

इस घोर अपमान का धक्का वे सह नहीं सके और उन्हें सीवियर हार्ट अटैक हो गया, गंभीर दिल का दौरा पड़ गया। हम तो अपने स्वार्थ से उन्हें बेडरेस्ट कराने के बहाने एक कमरे में कैद करने की योजना बना ही चुके थे, प्रकृति ने भी उन्हें परमानेन्ट कम्पलीट बेडरेस्ट करा दिया। उन्होंने इसे भी अपने कर्मोदय का फल मानकर सहज होने का बहुत प्रयत्न किया, पर वे संपूर्णतः सहज रह नहीं पाये। वे जीवन के अन्त तक उस विषम परिस्थिति को संसार का स्वरूप जानकर एवं अपने पापोदय का फल मानकर धैयपूर्वक झेलते रहे।

जब पेट जाये सगे बेटे-बहू ने मिलने वालों के सामने अपनी झूठी आन-बान रखने के लिए, अपना मिथ्या अहंकार पुष्ट करने के लिए अपने देहाती माता-पिता को माता-पिता मानने से इंकार करते हुए उन्हीं

के सामने उन्हें अपने खानदानी नौकर-नौकरानी कहकर उनके हृदय पर वज्रपात जैसा हृदय-विदारक प्रहार किया हो, तब स्वाभिमानी माता-पिता के मन-मष्तिष्क पर विपरीत प्रभाव पड़ना तो स्वाभाविक ही था; क्योंकि उस असह्य हार्दिक वेदना को उनके द्वारा झेल पाना संभव नहीं था। उनकी वेदना को तो कोई सहृदय भुक्तभोगी माता-पिता ही समझ सकते थे। हम जैसे हृदयहीन नालायक बेटे-बहू उनकी उस मरणतुल्य मानसिक पीड़ा को क्या जानें?''

हमारे इस व्यवहार से दुःखी होकर वे दोनों अर्द्धनिद्रा में बड़बड़ाते रहते थे; कहते रहते थे - ''हे भगवान! जमीन फट क्यों नहीं जाती, जिसमें हम समा जायें? यह सब देखने-सुनने के पहले ही ये आँखें अंधी और कान बहरे क्यों नहीं हो गये? यह अपमान सहने के पहले ही ये सांसें सदा के लिए थम क्यों नहीं गईं?

क्या यही दिन देखने के लिए नाना कष्ट सहकर हमने इस नालायक को नौ माह पेट में, अठारह माह गोद में और अठारह वर्ष घर में सीने से लगाये रखकर, दिन-रात इसकी चिन्ताओं की चिता में जल-जलकर, शरीर को सुखाया? स्वयं रूखा खाया और इसे मेवा-मिष्ठान्न खिलाया, केसरिया दूध पिलाया। ऐसा करके क्या हमने सचमुच आस्तीन के सांप को पाला है, काले नाग को दूध पिलाया है?

क्या यही दिन देखने के लिए दिन-रात परिश्रम कर-कर के पैसा कमाया था, पानी की तरह पैसा बहाकर इसे पढ़ाया-लिखाया था और इस योग्य बनाया था? क्या यही अपमान के खून के घूँट पीने के लिए इसका इतने ठाट-बाट से विवाह किया था?

अरे भगवान! यह मानव क्या इसी तरह की संतान के लिए ऐसा तरसता-तड़पता है? अपनी जान को जोखिम में डाल-डाल कर अपना परभव बिगड़ने की परवाह न कर जैसे बने तैसे नीति-अनीति से संतान के सुख के लिए दिन-रात एक करता है? और उसके बदले संतान देती है

केवल अपमान, उपेक्षा और बे-मौत मरने की मजबूरी।''

उन बूढ़े माँ-बाप की इस बड़बड़ाहट में व्यक्त हो रही वचनातीत पीड़ा को वाणी देना तो दूर, कल्पनाओं की सीमा में समेट पाना भी संभव नहीं है। जब कभी वह स्वयं अपने बूढ़े माता-पिता की स्थिति से गुजरे और उसके बेटे-बहू उसके साथ भी वैसा ही उपेक्षित और अपमानजनक व्यवहार करें, संभव है तब कहीं उसमें कुछ अक्ल आये। पर उस समय तक तो सब कुछ चूक चुकेगा। तब फिर पछताने के सिवाय हाथ में रहेगा ही क्या?

वक्त यूँ ही व्यतीत होता रहा और थोड़े दिनों के अन्तराल से वे दोनों ही उस जीवन के बन्धन से सदा-सदा के लिए मुक्त हो गए।

-- -- --

दीपावली के लिए सफाई अभियान चल रहा था, उस प्रसंग में एक दिन जब हम ऊपर वाले कमरे में गये तो यह देखकर दंग रह गये कि कमरे के एक कौने में उन सारे मिट्टी के कूँडो का ढेर लग रहा था, जिनमें हम अपने माता-पिता को खाना दिया करते थे।

मुझे क्रोध आ गया और मैंने क्रोधावेश में डाँटते हुए बेटे से कहा - ''क्यों रे पप्पू! तू इन्हें रोजाना क्यों नहीं फेंकता गया? अब इनका इतना बड़ा ढेर जमा हो गया है। जिसे फिकवाने के लिए मजदूर को कम से कम बीस-पच्चीस रुपये तो देने ही पड़ेंगे न?''

अत्यन्त भोलेपन से बेटा बोला - ''पापा! इन्हें फैंकने की क्या जरूरत है? ये तो बड़े काम के हैं।''

''क्यों, क्या काम आयेंगे ये?''

''जब आप व मम्मी बूढ़े हो जाओगे तो ये ही आपके काम आ जावेंगे न?''

''क्या तू हमें इनमें खिलायेगा?''

''पापा! मैं रोज-रोज नये कूँडे कहाँ से लाऊँगा? आप तो बड़े आदमी

हैं सो प्रतिदिन नये-नये मँगा लेते हो। यदि मैं न मँगा सका तो .....?''

उसकी बात पूरी ही न हो पायी थी कि मैंने पुनः डाँटते हुए कहा - ''क्यों बे नालायक! तो क्या तू हमें इन सकोरों में खिलायेगा?''

उसने उसी भोलेपन से पुनः उत्तर दिया, ''इसमें नालायकी की क्या बात है? यह तो अपने कुल की रीति है न? परिवार की परम्परा है न? यह परम्परा मुझे भी तो निभानी ही पड़ेगी न?''

उसकी ये बातें सुनकर मैं अवाक् रह गया। कुछ ही क्षणों में माताजी एवं पिताजी का संपूर्ण जीवनक्रम मेरे स्मृति-पटल पर उतर आया। और ज्योंही मैंने स्वयं को उनके स्थान पर और अपने बेटे को अपने स्थान पर प्रतिस्थापित किया तो मेरे पैरों के तले से जमीन खिसकने लगी।

''जिसप्रकार के जीवन जीने की कल्पना ही इतनी भयानक हो, वैसा जीवन जीने की मजबूरी कैसी होती होगी .....?'' इस विचार मात्र से मैं भय, आशंका और आत्मग्लानि के मिश्रित वेदना से काँप उठा।

सदासुखी के इस आत्मालोचन में विवेकी को भी अपने जीवन का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ा और उसकी समझ में आ गया कि उसकी वर्तमान विपरीत परिस्थितियों की जड़ें कहाँ हैं?

अचानक वे दोनों ही सदासुखी के मित्र उठे और अपनी-अपनी धुन में अत्यन्त आत्मग्लानि के भावों से भरे भारी मन व भारी कदमों से अपने-अपने घर की ओर चल पड़े।

आज उनकी विदाई में 'चलते हैं फिर मिलेंगे' का उल्लास भरा अभिवादन दिखाई नहीं दिया।

●

३

तीसरे दिन मैं उसी उपवन में उन वृद्ध व्यक्तियों से कुछ पहले पहुँच गया था। पिछले दो दिनों से उनकी बातें सुनते-सुनते मैं तो उनके जीवन, व्यक्तित्व एवं विचारों से बहुत कुछ परिचित हो गया था, पर वे मेरे बारे में अभी कुछ भी नहीं जानते थे।

हाँ, वे मुझे एकांत में अकेला बैठा देखकर सहज जिज्ञासावश कभी-कभी मेरी ओर देख लिया करते थे, इस कारण मेरा चेहरा अब उन्हें अपरिचित नहीं रहा था।

यद्यपि मैंने अपनी ओर से विगत दो दिनों में कभी कोई ऐसा हाव-भाव व्यक्त नहीं होने दिया, जिसके कारण उनका ध्यान मेरी ओर आकर्षित होता; पर न जाने क्यों उस दिन उनके मन में अनायास ही मुझसे परिचय करने की भावना बलवती हो गई।

मैं अपनी आँखें बन्द किए अपनी धुन में बैठा-बैठा विचारों के ताने-बाने बुन रहा था कि वे दोनों वृद्ध अनायास मेरे पास आकर खड़े हो गये और मेरा ध्यान आकर्षित करते हुए बोले - ''नमस्कार भाई जी!''

उन्हें अचानक सामने खड़ा देख पहले तो मैं कुछ सकुचा-सा गया। फिर स्वयं को संभालते हुए मैंने उनके अभिवादन के उत्तर में कहा - ''जय जिनेन्द्र जी''। फिर आवभगत करते हुए मैंने कहा आइए! आइए!! मैं भी आप लोगों से बात करने की सोच रहा था, पर आपकी बातों का तो कभी अंत ही नहीं आता, ओर-छोर ही नहीं होता। बातें पूरी होने की प्रतीक्षा में ही सारा समय पूरा हो जाता है।

पिछले दो दिनों से मैं प्रतिदिन आपको यहाँ बैठा देख रहा हूँ और अनचाहे ही आप की दिलचस्प बातें सुन रहा हूँ। आप लोग बड़े ही

जोर-जोर से बेझिझक होकर दिल खोलकर अपने-अपने दुख-दर्द की एवं दुनियादारी की बातें कर रहे हैं।

इस बीच मुझे अनेक बार ऐसा विकल्प आया कि - 'मैं आप लोगों से मिलूँ और आपके संबंध में मेरे मन में सागर की लहरों की तरह हिलोरें ले रहे अपने विचारों को आपसे कहूँ', पर आपके द्वारा दोनों ही दिन कोई न कोई ऐसा प्रसंग छेड़ दिया गया है कि उसी में समय पूरा हो गया। वैसे आपकी बातें भी कुछ ऐसी चित्ताकर्षक होती कि मैं भी उन्हें सुनने का लोभ संवरण नहीं कर पाता।

इसके अतिरिक्त यह भी विचार आता कि - ''महाकवि कालिदास की नीति के अनुसार, 'दो जनों की बातों में तीसरे को बोलना भी तो उचित नहीं है', यह सोचकर भी मैं आपके पास नहीं पहुँच पाया।''

मैंने आगे कहा - ''मुझे आपकी बातों से कुछ ऐसा आभास हो रहा कि आप अपने पारिवारिक वातावरण से कुछ त्रस्त हैं, परेशान हैं। बुढ़ापे में अपने आप को असहाय-सा महसूस करते हैं। आप अपने जीवन से निराश हो चुके हैं; तंग आ चुके हैं; इस कारण मुझे आशंका होती थी कि कहीं ऐसा न हो कि इन सब कारणों से आप लोग कोई अनर्थ कर बैठें, आत्मघात करलें।''

बस, इसी संबंध में मैं आप लोगों से कुछ कहना चाहता था, पर एक तो मुझे अवसर ही नहीं मिला, दूसरे मैं इस असमंजस में था कि - ''किसी को बिना माँगे सलाह देना भी चाहिए या नहीं; क्योंकि लोक नीति में इसे मूर्खता ही माना जाता है न!''

और अपरिचितों को सलाह देना तो और भी अनुचित है, नीतिविरुद्ध है। अतः कुछ भी सलाह देने जैसी बात करने के पूर्व कम से कम आपसे एक बार परिचय तो कर लूँ। मैं इसी तलाश में था। चलो, अच्छा हुआ आप ही आ गये।''

मुझे खादी के धोती-कुर्ता और टोपी के सादा भेष में देख संभवतः विद्वान समझकर सम्मानपूर्वक शब्दों में सदासुखी ने कहा - ''भाईजी!

आपके विचार तो बहुत ही उत्तम हैं। आप सभी के शुभचिन्तक तो हैं ही, न्याय-नीति का भी पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं।''

सदासुखी की बात समाप्त होते ही विवेकी ने कहा - ''मैं तो आपके बारे में कुछ और ही सोच रहा था?''

मैंने कहा - ''क्या मैं जान सकता हूँ कि आप वहाँ बैठे-बैठे मेरे बारे में क्या सोचते थे? आप लोगों ने मेरी ओर देखा तो अनेक बार है, निश्चित ही आप लोगों ने मेरे बारे में कोई राय भी अवश्य बनाई होगी।''

विवेकी ने कहा - ''हाँ मैं तो यह सोच रहा था कि संभवतः आप भी हम जैसे ही घर-परिवार से उपेक्षित, मुसीबत के मारे, बूढ़े बैल की तरह घर से निष्काषित अपने को असहाय अनुभव करने वाले, मौत की प्रतीक्षा कर रहे कोई दुखिया प्राणी हैं। अन्यथा यहाँ परदेश में अकेले आकर प्रतिदिन एकांत में ऐसे उदास-उदास से किसी पहुँचे हुए बैरागी संत की भाँति आँखें बंद करके घंटो नहीं बैठे रहते।''

सदासुखी ने विवेकी की हाँ में हाँ मिलाते हुए कहा - ''मुझे तो आपको देखकर बार-बार यह विचार आता था कि यह व्यक्ति दीखता तो कोई विद्वान, विचारक या राजनेता है, पर किसी समस्या से परेशान जरूर है। अकेला बैठा-बैठा बोर तो होता ही होगा। कहीं ऐसा तो नहीं कि यह भी परेशानी से बचने के लिए हमारी तरह ही परेशान हो! और परेशानियों से छुटकारा पाने के लिए किसी कुँआ-बावड़ी की तलाश में हो? कभी-कभी परेशानियाँ अच्छे-अच्छे विद्वानों और विवेकियों को भी विचलित कर देती हैं। चलो, चलकर मालूम करते हैं कौन हैं? कहाँ से आया है? कहाँ ठहरा है? यहाँ दिन भर क्या करता है? और बेचारा किस मुसीबत का मारा है?

हमें आपके पहनावे से ऐसा लगा - ''आदमी तो भला लगता है, अतः हमने विचार किया - ''क्यों न इसे अपना साथी बनालें? अपने साथ होने से यह भी अपनी बातचीत व गप-शप में अपना दुःख भूला

रहेगा। और यदि बेमौत मरने का विचार होगा तो वह विचार भी छोड़ देगा। बेमौत मरने से कोई फायदा नहीं, हमने एक पुस्तक में पढ़ा था कि 'जो कर्म किए हैं, उन्हें तो भोगना ही पड़ेगा, चाहे जीवित रहकर भोगे या मरकर।' तब से हमने भी यह विचार छोड़ दिया है, अन्यथा परेशानियों में ऐसे विचार तो हमें भी बहुत बार आये थे।''

यह तो एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि – ''सामाजिक और पारिवारिक प्राणियों को अकेलापन काटने को दौड़ता है। अतः आपको ऐसा अकेले बैठा देखकर हमने यह निश्चय किया कि क्यों न आपको भी अपना साथी बना लें, ताकि आपका समय भी चर्चा-वार्ता में आसानी से कट जाया करेगा।''

उन दोनों की बातें सुनकर मैंने कहा – ''भला, बेमौत मरना भी कोई मरना है। यद्यपि मैं पहले बहुत बार मरने की सोच चुका हूँ। एक-दो बार तो मैं मरने से बाल-बाल ही बचा हूँ; सद्भाग्य से मुझे एक ऐसे सत्पुरुष का समागम मिल गया, जिनके कारण मेरी अमूल्य मनुष्य पर्याय सार्थक हो गई।

उन्होंने मुझे बताया कि – ''भाई! ऐसी भूल कभी मत करना; क्योंकि जिस दुःख के भय से घबराकर तुम बेमौत मरना चाहते हो, उस दुःख से तुम्हें ऐसे बेमौत मरने से भी छुटकारा नहीं मिलेगा।

जो पाप-पुण्य हमने किये हैं, उनका फल तो भोगना ही पड़ेगा। इस जन्म में नहीं भोगे तो अगले जन्म में फिर वैसी ही परिस्थितियाँ बनेंगी, और वहाँ फिर यही सब दुःख सहने होंगे।''

उन सत्पुरुष ने यह भी बताया कि – ''इस तरह की मौत बिना संक्लेश परिणामों के नहीं होती तथा संक्लेश परिणामों के साथ मरने से नियम से कुगति होती है। नरक, निगोद या तिर्यंच गति में जाना पड़ता है, अतः ऐसी गलती कभी नहीं करना। तब से मैंने बेमौत मरने का तो इरादा

छोड़ ही दिया है। मैं आप लोगों के पास इसी इरादे से आना चाहता था, अच्छा है आप पहले से ही सचेत हैं। भविष्य में ऐसा कोई विकल्प आ भी जाये तो आप ऐसी गलती कभी नहीं करना।''

मैंने उनसे आगे कहा – ''भाई! मैं भी संघर्षों में ही पैदा हुआ, संघर्षों में ही पला-पुसा और बड़ा हुआ हूँ, पढ़ा-लिखा हूँ; मैंने जीवन में बहुत उतार-चढ़ाव देखे हैं, सभी तरह के संघर्ष झेले हैं। अतः अब मैं छोटे-मोटे संघर्षों से नहीं घबराता। यह सब तो पुण्य-पाप के खेल हैं, आतीं-जातीं क्षणिक अवस्थायें हैं, इनसे क्या घबराना?

एक कवि ने तो संघर्षों का स्वागत करते हुए यहाँ तक लिख दिया है –

'जितने कष्ट-कंटकों में, जिसका जीवन सुमन खिला।
गौरव-गंध उन्हें उतना ही, यत्र-तत्र सर्वत्र मिला।।

पर मेरे सद्भाग्य से वर्तमान में मेरी सब पारिवारिक परिस्थितियाँ मेरे अनुकूल हैं। मुझे वर्तमान में अपने परिवारजनों के कारण कोई विशेष कष्ट नहीं है। क्षणिक मोह-राग-द्वेष के कारण जो दूसरों के साथ छुट-पुट घटनायें या द्वंद्व हो जाते हैं, उनको भी मैं संसार का स्वरूप जानकर तथा सामने वाले का क्षणिक मनोविकार मानकर तत्त्वज्ञान के सहारे गौण कर देता हूँ, अपने पर नियंत्रण करके मैं किसी तरह टाल देता हूँ और बाद में जब अपराधी का क्रोधावेश समाप्त हो जाता है और विवेक जागृत होता है तो वह अपने अपराध को स्वीकार कर स्वयं ही मेरे पास क्षमा याचना की मुद्रा में आकर खड़ा हो जाता है।''

मेरा यह प्रयोग बहुत ही सफल सिद्ध हुआ है। यदि आप लोग भी यह प्रयोग करें तो मैं समझता हूँ आपकी पारिवारिक परेशानियाँ भी कम हो सकती हैं।

अरे! आप ही सोचिए न! ''मोह राजा के साम्राज्य में यह सब कषायचक्र नहीं चलेगा तो और कहाँ चलेगा? पर यह सब स्थाई नहीं है,

नियम से मरने वाला है। क्षण भर बाद चले जाने वाले मनोविकारों के चक्कर में फँस कर अपने आत्मा का घात क्यों करें?''

मैंने आगे कहा – ''आपको यह ज्ञात होना चाहिए कि यह मनुष्य पर्याय, उत्तमकुल व जिनवाणी का श्रवण उत्तरोत्तर दुर्लभ है।

अनन्तानन्त जीव अनादि से निगोद में हैं, उनमें से कुछ भली होनहार वाले बिरले जीव भाड़ में से उचटे बिरले चनों की भाँति निगोद से एकेन्द्रिय आदि पर्यायों में आते हैं। वहाँ भी वे लंबे काल तक पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु एवं वनस्पतिकायों में जन्म-मरण करते रहते हैं। उनमें से भी कुछ बिरले जीव ही बड़ी दुर्लभता से दो-इंद्रिय, तीन-इंद्रिय, चार-इंद्रिय एवं पंचेद्रिय पर्यायों में आते हैं। यहाँ तक तो ठीक, पर इसके बाद **मनुष्यपर्याय, उत्तमदेश, सुसंगति, श्रावककुल, सम्यक्दर्शन, संयम, रत्नत्रय की आराधना आदि तो उत्तरोत्तर और भी महादुर्लभ है।**

अतः इस तरह वर्तमान दुःखों से घबड़ाकर बेमौत मरने की भूल कभी नहीं करना। अन्यथा अपघात करने का फल जो पुनः नरक निगोद में जाना है, उससे कोई नहीं बचा पायेगा।''

मेरी ये प्रेरणाप्रद बातें सुनकर वे दोनों मित्र गद्-गद् हो गये।

अश्रुपूरित नयनों से विवेकी ने कहा – ''धन्य हैं आप! हम लोग आपके बारे में क्या सोचकर आये थे और आप क्या निकले। आप तो वस्तुतः बहुत सुलझे हुए विचारवान चिन्तक पुरुष हैं। आपने तो हमारी आँखें ही खोल दी हैं। कहिए, यहाँ आप कहाँ ठहरे हैं? वहाँ आपको कोई कष्ट तो नहीं है, सब कुशल मंगल तो है न?

मैंने उन्हें अपना सामान्य परिचय देते हुए कहा – ''भाई! यदि रहीम कवि की नीति पर मैं चलूँ, उनकी नेक सलाह मानूँ तो मुझे यही कहना चाहिए कि – 'नहीं-नहीं मुझे कोई कष्ट नहीं है, आप लोगों के आशीर्वाद से मैं पूर्णतः सानन्द हूँ।'

वस्तुतः हर किसी के सामने अपने दिल का दर्द या मन की व्यथा कहने से कोई लाभ नहीं है। इस मशीनी युग में किसी को न तो किसी के

कष्ट सुनने की फुरसत है और न उन्हें सहयोग करने व सहानुभूति प्रदर्शित करने का ही समय है। अतः किसी से कुछ कहना, 'भैंस के आगे बीन बजाना' है, अरण्य-रुदन करना है।

आज कुशल-क्षेम पूछना भी मात्र औपचारिकता बन कर रह गया है, एक रिवाज-सा हो गया है, किसी को किसी की वास्तविक कुशल-क्षेम से कोई लेना-देना नहीं है। अतः औपचारिक तौर पर तो यही उत्तर उत्तम है। पर, वास्तविकता इससे बिल्कुल जुदी है, जिसे हम भूधर कवि कृत जैनशतक की निम्नांकित पंक्तियों में देख सकते हैं :-

जोई दिन कटै, सोई आयु में अवश्य घटै;
बूँद-बूँद बीते, जैसे अंजुलि कौ जल है।
देह नित छीन होत, नैन तेज हीन होत;
जीवन मलीन होत, छीन होत बल है।
आवै जरा नेरी, तकै अंतक अहेरी;
आबै परभौ नजीक, जात नर भौ निफल है।
मिलकै मिलापी जन, पूछत कुशल मेरी;
ऐसी दशामांही मित्र! काहे की कुशल है।।३७।।

यदि इस संसार में पुण्यात्मा से पुण्यात्मा जीव भी कुशल-मंगल से होता, पूर्ण सुखी होता तो यहीं मोक्ष होता; फिर मोक्ष के लिए कोई प्रयत्न ही क्यों करता?

इस प्रकार हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि तत्त्वज्ञान के बिना संसार में कोई सुखी नहीं है। अतः हमें हर हालत में मात्र तत्त्वज्ञान प्राप्त करने का ही प्रयत्न करना चाहिए।''

मेरे इन विचारों को सुनकर विवेकी एवं सदासुखी बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने अनुरोध किया कि जब तक आप यहाँ रहें, तब तक अपने सत्समागम का लाभ अवश्य देते रहें। ●

४

जब मैंने स्वयं उस उपवन में विवेकी और सदासुखी के मुख से ही उनके वैयक्तिक जीवन की समालोचना सुनी और उन्हें अपनी भूलों पर पश्चाताप करते देखा तो मेरे हृदय में उन्हें और उन जैसे ही अन्यजनों को समझाने की भावना हुई। अतः मैंने कहा – ''पुरुषों की बहत्तर कलाओं में केवल दो कलाओं को ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। एक जीविका और दूसरी जीवोद्धार। कहा भी है :-

कला बहत्तर पुरुष की, तामें दो सरदार।
एक जीव की जीविका, दूजी जीवोद्धार।।

जब-जब इस लोकोक्ति पर दृष्टिपात करता हूँ, विचार करता हूँ तो पाता हूँ कि अधिकांश व्यक्ति तो पहली कला-आजीविका को अर्जित करने में ही अपनी संपूर्ण शक्ति लगा देते हैं और इसमें सफल होने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं। दूसरी जीवोद्धार की जो महत्त्वपूर्ण कला है, उस पर तो वे जीवन के अंत तक भी ध्यान नहीं देते।

पर, जहाँ जीविका की कला हमारी वर्तमान आर्थिक समस्याओं का समाधान करती है, वही जीवोद्धार की कला हमारे जन्म-जन्मान्तरों के दुःखों को दूर करके सच्चा सुख प्रदान करती है। अतः जीविका से अधिक महत्त्व जीवोद्धार को मिलना चाहिए।''

मेरी बात पूरी ही नहीं हुई थी कि विवेकी बोले – ''भाईजी। आपका कहना सच है; पर जब तक जीविका स्थिर नहीं होती, परिवार के उत्तरदायित्वों से मुक्ति नहीं मिल जाती; तब तक जीवोद्धार की बात सूझती ही कहाँ है? जिससे जीवोद्धार की बात करो, वही कहता है – ''भूखे भजन न होय गोपाला, यह लो अपनी कंठी माला।''

विवेकी की इस बात को मद्देनजर रखकर मैंने कहा – ''यद्यपि स्थिर जीविका के बिना जीवोद्धार की बात संभव नहीं है, आजीविका की भी मानव जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। कम से कम रोटी, कपड़ा और मकान की प्राथमिक आवश्यकताओं की समस्याओं का समाधान तो होना ही चाहिए। पर, वह हमारे हाथ में है कहाँ? वह तो अपने-अपने प्रारब्ध के अनुसार ही मिलती है। चींटी को कण और हाथी को मण सुबह से शाम तक अपने-अपने भाग्यानुसार मिलता ही है। इसमें आदमी की बुद्धि अधिक काम नहीं आती।

राजा सेवक पर कितना ही प्रसन्न क्यों न हो जाये, पर वह सेवक को उसके भाग्य से किंचित् भी अधिक धन नहीं दे सकता। दिन-रात पानी क्यों न बरसे, तो भी ढाक की टहनी में तीन से अधिक पत्ते नहीं निकलते हैं। कहा भी है :-

तुष्टो हि राजा यदि सेवकेभ्यः,
भाग्यात् परं नैष ददाति किंचित्।
अहिर्निशं वर्षति वारिवाहा,
तथापि पत्र त्रितयः पलाशः।।

यद्यपि उद्योग में उद्यम की प्रमुखता है, पर उद्यम भी तो होनहार का ही अनुसरण करता है, अन्यथा आज सभी उद्यम करने वाले करोड़पति से कम नहीं होते। आज ऐसा कौन है जो बड़ा आदमी बनने का, करोड़पति बनने का उद्यम नहीं कर रहा? पर उनमें कितने करोड़पति हो गये? जब भाग्य साथ नहीं देता तो अच्छे-अच्छे बुद्धिमानों की बुद्धि भी कुछ काम नहीं करती।

वैसे भी 'दाने-दाने पर लिखा है खाने वाले का नाम' इस उक्ति के अनुसार सबकी आजीविका तो भाग्यानुसार पहले से ही निश्चित है। यह न केवल लोकोक्ति है, गोम्मटसार व समयसार जैसे आगम व अध्यात्म ग्रंथ भी इसका समर्थन करते हैं। अतः जीविका में ही सारी शक्ति लगा

देना और जीवोद्धार को कुछ भी समय नहीं निकालना अच्छी बात नहीं है।'' अस्तु!

यह तो सिद्धान्त की बात है कोई माने या न माने, उसकी मर्जी। हमें इससे क्या?

पर सदासुखी और विवेकी के बीच हुई बातचीत से तो स्पष्ट पता चलता था कि अब उनके सामने आजीविका की कोई समस्या नहीं रही। भले ही उन्हें आजीविका के लिए पहाड़ी इलाके में जाकर बसना पड़ा हो, पर अब वे वहाँ आजीविका से तो पूर्ण निश्चिंत हैं। पर्यटकों के आवागमन से उनका व्यापार-धंधा यहाँ अच्छा चल निकला है।

यद्यपि उन्होंने अपने इस व्यवसाय में अधिक अक्ल नहीं लगाई थी और न ऐसा कोई भारी उद्यम ही किया था। सहज भाव से रोजी-रोटी चलती रहे, बस इसी विचार से छोटी-छोटी दुकानें लगा लीं थीं। भाग्योदय हुआ तो उन्हीं दुकानों में वे मालामाल हो गये और कल-कारखाने तक खुल गये। सो ठीक ही हैं :-

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायोऽपि तादृशः।
सहाया स्तादृशः सन्ति, यादृशी भवितव्यता।।

जैसी होनहार होती है, वैसी ही बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, उद्यम भी उसी दिशा की ओर होने लगता है, सहायक भी वैसे ही मिल जाते हैं।

ऐसे विचार से विज्ञ व्यक्ति आजीविका की अधिक चिन्ता नहीं करते; पर ऐसी विज्ञता का अभी उनमें अभाव था।

-- -- --

'पहला सुख निरोगी काया, दूजा सुख हो घर में माया'। इस लोकोक्ति के अनुसार यद्यपि सदासुखी बाहर से सुखी दिखाई देते थे, पर वस्तुतः अन्दर से वे अभी भी बहुत दुःखी थे, काफी परेशान थे।

जो भी सदासुखी की तरह संयोगों में सुख की खोज करेगा, उसे तो निराश होना ही पड़ेगा; क्योंकि संयोगों में सुख है ही कहाँ, जो उसे मिले।

संयोगों में न तो सुख है और न दुःख ही है। सांसारिक सुख-दुःख तो संयोगी भावों से होता है, संयोगों में इष्ट-अनिष्ट कल्पनाएँ करने से होता है। संयोगों में वस्तुतः सुख है ही कहाँ, वह तो सुखाभास है, दुःख का ही बदला हुआ रूप है।

सच्चे सुख की यदि खोज की जाये तो वास्तविक सुख का सागर तो अपना भगवान आत्मा ही है, जिसकी सदासुखी की पहचान ही नहीं थी।

विवेकी बाबाजी भी जीवनभर ठोकरें खाते-खाते बातें तो विवेकियों जैसी ही करने लगे थे, पर अभी उन्हें वास्तविक विवेक (तत्त्वज्ञान) की प्राप्ति नहीं हुई थी। इस कारण वे भी संपन्न होते हुए भी सुखी नहीं थे।

जीवन भर पड़ौसी रहने से उन दोनों में परस्पर अच्छी मैत्री हो गई थी, वे दोनों ही वृद्ध भी हो चुके थे। अतः उनका धंधा-व्यापार और कल-कारखाने तो सब उनके लड़कों ने संभाल ही लिये थे, उनका शरीर भी अब इस योग्य नहीं रहा था कि वे व्यापार में बच्चों का कुछ भी सहयोग कर सकें।

एक दृष्टि से तो यह अच्छा ही हुआ कि अब उन्हें आत्मोद्धार करने का पूरा-पूरा सुअवसर प्राप्त हो गया था, पर कोई उस शेष जीवन का भी जीवोद्धार में उपयोग करे तब न? अधिकांश तो जीविका में ही अटके रहते हैं।

यह भी पुण्य का उदय ही समझना चाहिए कि उन्हें कोई राजरोग नहीं था, पर बुढ़ापा स्वयं भी तो अपने आप में एक बीमारी है, जिससे कोई नहीं बच सकता। जन्म, जरा (बुढ़ापा) एवं मृत्यु - ये तीन ऐसे ध्रुव सत्य हैं कि जिनसे कोई इंकार नहीं कर सकता। इनका सामना तो समय-समय पर सबको करना ही पड़ता है। बस, हमें तो केवल यह देखना है कि ये तीनों अवस्थायें सुखद और सार्थक कैसे हो सकती हैं? बुढ़ापे की बीमारी से वे दोनों ग्रसित हो गये थे। शरीर क्षीण होने के

साथ उनका पुण्य भी क्षीण हो चला था। जिसतरह जब सरोवर सूखता है तो सब ओर से ही सूखता है, उसी तरह जब पुण्य क्षीण होता है तो सब ओर से ही क्षीण होता है।

सदासुखी व विवेकी इसी स्थिति में आ चुके थे। अब उन्हें क्या घर पर और क्या दुकान पर – दोनों ही जगह दो हाथ जमीन भी गौरव के साथ बैठने के लिए नसीब नहीं रही थी। दुकान पर जाते तो बेटे घर पर आराम व स्वाध्याय करने का उपदेश देते और जब घर होते तो न केवल बहू-बेटियाँ, बल्कि नाती-पोते तक उन्हें भगवान का भजन-पूजन करने और प्रवचन सुनने व सत्संग करने हेतु तीनों समय मंदिर जाने की सलाह दिया करते।

उनके परिवार में किसी को उनके आराम व कल्याण की किंचित् भी परवाह नहीं थी और न स्वयं परिजनों को भी भगवान के भजन-पूजन, स्वाध्याय व सत्संग से कोई सरोकार था। उन्हें तो केवल उन बूढ़ों की घर व दुकान पर उपस्थिति अभीष्ट नहीं थी; क्योंकि एक तो किसी भी काम में उनकी टोका-टाकी पसंद नहीं थी और दूसरे, दुकान में जगह की कमी तो थी ही, अतः बिना काम व्यर्थ में ही कोई थोड़ी-सी भी जगह क्यों घेरे? तीसरी मुख्य बात यह थी कि – बहू-बेटियाँ व नाती-पोते अपने स्वच्छन्द आचरण में उन्हें बाधक मानते थे; अतः वे उन्हें आँख की किरकिरी की तरह खटकने लगे थे।

इस तरह घर व दुकान – दोनों जगह से उपेक्षित वे दोनों अपने-अपने घर के बाहर के बरामदों में बैठे-बैठे ऊब भी जाते थे। अतः शाम होते ही उनका सैर-सपाटे का मन होना स्वाभाविक ही था। सो शाम होते ही वे मन बहलाने और जी हल्का करने के लिए उसी उपवन में पहुँच जाते।

यद्यपि सदासुखी और विवेकी को रहीम कवि का यह दोहा बहुत अच्छी तरह याद था :-

रहिमन निज मन की व्यथा, मन ही राखो गोय।
सुन इठिलैहैं लोग सब बांट न लैहें कोय।।

विवेकियों को अपने मन की व्यथा अपने मन में ही रखनी चाहिए। हर किसी से कहनी नहीं चाहिए; क्योंकि दूसरों से कहने से कोई लाभ नहीं होता, अपनी व्यथा को न तो हर कोई समझ ही सकता है और न कम ही कर सकता है। जिससे भी हम अपने दिल का दुःख-दर्द कहेंगे, वह या तो राग-द्वेष व अज्ञानवश हमारा ही दोष बताकर हमें और अधिक दुःखी कर देगा या फिर हमें दीन-हीन दुःखी, मुसीबत का मारा मानकर दयादृष्टि से देखेगा। हमारी और हमारे परिवार की कमजोरियों को यहाँ-वहाँ कहकर बदनामी भी कर सकता है और हमारी कमजोरियों का गलत फायदा भी उठा सकता है।

इन सब हानियों को जानते हुए भी उनसे रहा नहीं जाता था; क्योंकि परिवार की उपेक्षा से उनका मन दिनभर में इतना बोझिल हो जाता कि उन्हें आपस में अपना दुःख-सुख कहे बिना चैन नहीं पड़ती। उन्हें ऐसा लगने लगता था कि यदि वे अपने मन के गुब्बार नहीं निकालेंगे तो कहीं पागल न हो जाएँ। अतः वे शाम को घूमने-फिरने के समय अपने-अपने मन की बातें कहकर मन हल्का कर लिया करते थे। यदि उनके बेटे-बहुओं में कोई जरा भी समझदार होता तो संभवतः स्थिति यहाँ तक नहीं पहुँचती कि उन्हें घर की बात बाहर कहने को मजबूर होना पड़ता।

भले ही वे पढ़े-लिखे नहीं थे, विद्वान नहीं थे, पर निरे बुद्धू भी नहीं थे, बल्कि वे बुद्धिमान थे, समझदार थे। जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव देखे थे, अतः लौकिक दृष्टि से अनुभवी भी हो गये थे।

व्यक्ति विद्वान न हो तो भी बुद्धिमान हो सकता है; क्योंकि विद्या अर्जित ज्ञान को कहते हैं और बुद्धि जन्मजात प्रतिभा को, जो उनमें थी; अन्यथा वे अपने जीवन में इतनी उन्नति कैसे कर लेते? इस कारण उनकी

सभी बातें कोरी-गप-शप नहीं होती थीं। बहुत-सी बातें दूसरों के लिए बहुत उपयोगी, शिक्षाप्रद और प्रेरणादायक भी होती थी। वे कभी-कभी धार्मिक चर्चा भी छेड़ दिया करते थे। पर उनकी धार्मिक चर्चा तत्त्वज्ञान से शून्य होने के कारण अधूरी होती थी।

इस कारण जब तक मैं वहाँ रहा, प्रतिदिन उनके खट्ठे-मीठे अनुभवों को सुनने तथा उनके जीवन में आध्यात्मिक परिवर्तन लाने के उद्देश्य से वहाँ नियम से जाता रहा, जहाँ वे बैठकर बातें किया करते थे।

●

- आधि, व्याधि और उपाधि से रहित आत्मा के निर्मल परिणामों का नाम समाधि है। आधि अर्थात् मानसिक चिन्ता, व्याधि अर्थात् शारीरिक रोग और उपाधि अर्थात् पर के कर्तृत्व का बोझ - समाधि इन तीनों से रहित आत्मा की वह निर्मल परिणति है, जिसमें न कोई चिन्ता है, न रोग है और न पर के कर्तृत्व का भार ही है। एकदम निराकुल, परम शांत, अत्यन्त निर्भय और निशंक भाव से जीवन जीने की कला ही समाधि है। यह समाधि संवेग के बिना संभव नहीं और संवेग अर्थात् संसार से उदासी सम्यग्दर्शन के बिना संभव नहीं। सम्यग्दर्शन के लिए तत्त्वाभ्यास और भेदविज्ञान अनिवार्य है।
- जिसे समाधि द्वारा सुखद जीवन जीना आता है, वही व्यक्ति सल्लेखना द्वारा मृत्यु को महोत्सव बना सकता है, वही शान्तिपूर्वक मरण का वरण कर सकता है।
- समाधि और सल्लेखना को और भी सरल शब्दों में परिभाषित करें तो हम यह कह सकते हैं कि ''समाधि समता भाव से सुख-शान्तिपूर्वक जीवन जीने की कला है और सल्लेखना मृत्यु को महोत्सव बनाने का क्रान्तिकारी कदम है, मानव जीवन को सार्थक और सफल करने का एक अनोखा अभियान है।''

५

वह पहाड़ी प्रदेश प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से तो श्रेष्ठ था ही, अध्ययन-मनन व चिन्तन की दृष्टि से भी बहुत उपयुक्त था। अत्यन्त शांत व एकांत होने से मेरा मन तो वहाँ कुछ दिन और ठहरने का था ही, संयोग से विवेकी व सदासुखी जैसे दुःखी, जिज्ञासु व संसार से उदास-विरक्त व्यक्तियों का संपर्क हो जाने से उनके निमित्त से भी शेष समय का सदुपयोग करने का सुअवसर मिल गया।

सदासुखी व विवेकी बुद्धिमान व्यक्ति थे, अतः थोड़े ही दिनों में वे चर्चायें तो बड़ी ऊँची-ऊँची अध्यात्म की करने लगे। वे न केवल गहरी तत्त्वचर्चा करते, संन्यास लेने की बातें भी करने लगे। संन्यास लेने की बातें हैं तो बहुत अच्छी; पर उसे कोई यथार्थ रूप से ग्रहण कर सके तब न! अधिकांश तो ऐसे लोगों का मरघटया वैराग्य ही होता है। अतः मैंने उन्हें और थोड़ा टटोलने की कोशिश की।

मैंने सोचा - ''कहीं सचमुच ऐसा न हो कि सच्चे वैराग्य के बजाय ये लोग पारिवारिक परिस्थितियों से परेशान होकर कहीं किसी से द्वेष या घृणा करने लगे हों और ये स्वयं भ्रम से उसे ही वैराग्य मान बैठे हों।

इन परिस्थितियों में भी लोग सभ्य भाषा में ऐसा ही बोलते हैं। न केवल बोलते हैं, कभी-कभी उन्हें स्वयं को ऐसा लगने भी लगता है कि वे विरागी हो रहे हैं; जबकि उन्हें वैराग्य नहीं, वस्तुतः द्वेष होता है। केवल राग अपना रूप बदल लेता है, वह राग ही द्वेष में परिणित हो जाता है, जिसे वे वैराग्य या संन्यास समझ लेते हैं।''

जब मैंने उनके अन्तर्मन को और गहराई से टटोला तो ज्ञात हुआ कि वस्तुतः वे संघर्षों का सामना न करके उनसे घबराकर पलायन कर रहे थे।

तत्त्वज्ञान के अभाव में भला कोई संन्यास की ओर अग्रसर कैसे हो सकता है?

मेरे आत्मीय व्यवहार से उन्हें ऐसा लगा, मानो मैं उनसे चिर-परिचित हूँ। अतः उन्होंने आत्मीयता दिखाते हुए कहा - ''भाई! क्षमा करना, हमें याद नहीं आ रहा कि हम आपसे इसके पहले कब/कहाँ मिले? पर मिले कहीं अवश्य हैं।''

मैंने उनसे कहा - ''मैं आप लोगों की बातें पिछले चार दिनों से सुन रहा हूँ बस, उन्हीं बातों से मैं आपके नाम, व्यक्तित्व एवं विचारों से परिचित हुआ हूँ। मेरे ध्यान से तो मेरा आप लोगों से संभवतः यह प्रथम परिचय ही है। पर आप लोग मुझे भी चिर-परिचित से ही लगते हैं।

यद्यपि लोकनीति के अनुसार प्रथम परिचय में मुझे आपसे उपदेश की भाषा में किसी प्रकार की बात नहीं करनी चाहिए, पर आप लोगों के प्रति मुझे सहज धर्मस्नेह हो गया, अतः मैं दुःसाहस करके कुछ कहना चाहता हूँ, इसके लिए मैं क्षमा चाहता हूँ।''

मेरी बात सुनकर सदासुखी ने अत्यन्त विनम्रता से कहा - ''आप कैसी बातें करते हैं। यह तो हमारा परम सौभाग्य है जो हमें आप जैसे सत्पुरुष का सहज समागम हो गया है। आप जो भी कहना चाहें, अवश्य कहें। हमें तो आपकी सलाह से कुछ न कुछ लाभ ही होगा।''

मैंने कहा - ''आप लोग अपने जीवन में हुई भूलों पर पश्चाताप करके अपने पापों का प्रक्षालन करने एवं दोषों को दूर करने का जो प्रयास कर रहे हैं, वह तो बहुत अच्छी बात है, पर अभी तक आपने केवल अपने पारिवारिक जीवन की ही समीक्षा की है, अपने परलोक की दृष्टि से भी तो अपनी सम्यक् समालोचना कीजिए। उसके बिना संन्यास व समाधि की प्राप्ति होना कैसे संभव है?''

साथ ही जब मैंने उन्हें अपना सामान्य-सा परिचय दिया तो विवेकी ने कहा - ''ओह! आप तो लेखक भी हैं? मैंने आपकी कई पुस्तकें पढ़ी

हैं। तभी तो मैंने मन ही मन सोचा कि ''मैंने आपको पहले भी कहीं देखा है। अब याद आया कि मैंने आपको प्रत्यक्ष नहीं, परोक्ष रूप में पुस्तकों में देखा है।

भाई! अब तो आप हमारे परोक्ष गुरु भी हैं, हमने तो आपकी पुस्तकों से बहुत कुछ सीखा है। पर प्रत्यक्ष गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता। पुस्तकें कोई कितनी भी क्यों न पढ़ लें, पर प्रत्यक्ष चर्चा से जो स्पष्टीकरण होता है, वह स्वयं पढ़ने से नहीं। यह बात अवश्य है कि गुरु तो कभी-कभी ही मिल पाते हैं और जिनवाणी तो नित्यबोधक हैं, सदा अपने साथ है, जब मन में आये पढ़ो। मैं गुरु की महिमा बताकर जिनवाणी की उपयोगिता से इंकार नहीं कर रहा हूँ। फिर आपका लिखने का ढंग तो समझाने जैसा ही सरल होता है। अतः पढ़ने का महत्त्व अलग है और सुनने का अलग। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं।

जब आपसे प्रत्यक्ष परिचय हो ही गया है तो अब तो आप हमें यह बता कर ही जाइए कि हमें अपने शेष जीवन को कैसे जीना चाहिए?

हमने अपने जीवन में इस जगत के स्वरूप को अच्छी तरह देख-परख लिया है, अतः अब हमारा जी इस जगत से ऊब गया है। सारा जगत स्वार्थी है, कोई किसी का नहीं है। चाहे वह जीवन भर साथ निभाने की कसमें खाने वाली पत्नी हो या भाई-भतीजे हों। क्या पत्नी और क्या पुत्र-पौत्र, सभी अपने-अपने सुख के संगाती हैं, स्वार्थ के साथी हैं। शास्त्रों में भी जगह-जगह यही सब कहा है। देखिये वैराग्य भावना की कुछ पंक्तियाँ -

कमला चलत न पैंड़ जाय मरघट तक परिवारा।
अपने-अपने सुख को रोवें पिता-पुत्र-दारा।।

प्राणांत होने के बाद कमला (धन-दौलत) जीव के साथ एक कदम भी तो नहीं जाती। जहाँ की तहाँ पड़ी रहती है। परिजन-पुरजन भी केवल मरघट तक जाकर लौट आते हैं। पुत्र-पौत्रादि कुटम्बीजन तीन दिन बाद अपने-अपने धंधे में लग जाते हैं और तेरह दिन बाद तो मानो उन सबके

फिर सुनहरे दिन लौट आते हैं और सब अपने-अपने राग-रंग में मस्त हो जाते हैं। फिर कौन किसको याद करता है?

जो बाद में भी यदा-कदा रोते दिखाई देते हैं, वे भी सब अपने-अपने स्वार्थों को ही याद कर-कर के रोते हैं। कहाँ तक गावें इस स्वार्थी जगत की गाथाओं को?

अतः हम संन्यास धारण कर आत्मसाधन द्वारा सम्यक् समाधि से अपने जीवन को सुखमय बनाना चाहते हैं। भला यह भी कोई जीवन है? जिसमें संघर्ष ही संघर्ष हों, एक क्षण को भी शांति न मिले। ऐसी कषायाग्नि में जलना अब हमें एक क्षण को भी अभीष्ट नहीं है। अतः आप हमें संन्यास और समाधि का स्वरूप भी समझा दीजिए।''

उनकी संन्यास व समाधि लेने की तीव्र भावना को देखकर उनके परिणामों की यथार्थ स्थिति जानने के लिए मैंने कहा - **''देखो, धर्म हमें जीवन-संघर्ष से पलायन करना नहीं सिखाता, बल्कि वह पर्याय का सत्य समझकर उसके साथ समतापूर्वक समायोजन करना, समझौता करना सिखाता है।''**

किसी कवि ने तो ऐसे पलायनवादियों को झकझोरते हुए यहाँ तक कह दिया है :-

जिनसे घर मांहि कछू न बन्यों, वे बन में जाहि कहा करि हैं?

जो घर में, कषायों के कारण उत्पन्न हुई पारिवारिक जीवन की छोटी-छोटी प्रतिकूलताओं का धीरज के साथ सामना नहीं कर सकता, वह मुनिजीवन की कठोर साधना कैसे करेगा? तथा प्राकृतिक परीषहों और परकृत उपसर्गों को कैसे सहेगा?

जीवन तो संघर्षों का ही दूसरा नाम है। और संघर्षों का जन्म बाहर में नहीं, अन्तर में होता है। तत्त्वज्ञान के अभ्यास से जैसे-जैसे कषायें कृश होंगी, राग-द्वेष की कारणभूत इष्टानिष्ट कल्पनाएँ भी सीमित होगी, संघर्ष भी सीमित होते जायेंगे तथा कषायों का शमन जीवन से पलायन करने से नहीं, सत्य को समझने और उसे स्वीकार करने से होता है। अतः सर्वप्रथम पूरी शक्ति से सत्य को समझने में जुटना होगा।

इसके लिए सबसे पहले शास्त्राभ्यास के द्वारा हमें तत्त्वनिर्णय करना होगा, ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करना होगा, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के यथार्थ स्वरूप को समझना होगा, फिर जो पर की प्रसिद्धि में ही मात्र निमित्त हैं, ऐसी पाँचों इन्द्रियों, मन और इनके विषयों पर से अपनी रुचि को हटाकर आत्म-सम्मुख करना होगा, तभी संन्यास एवं समाधि की पात्रता प्राप्त होगी। यहीं से होता है संन्यास एवं समाधि का शुभारंभ।

अतः आप लोगों को आज ही नियमित स्वाध्याय करने का संकल्प कर लेना चाहिए। ज्ञान ही सर्व समाधानकारक है, जो केवल स्वाध्याय से ही प्राप्त हो सकता है। जिसे समता से, निष्कषायभाव से जीना नहीं आता उसका मरण समाधिपूर्वक कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता; क्योंकि निष्कषायभाव या शांत परिणाम होने का दूसरा नाम ही तो समाधि है।

अतः जिसे अपने मरण को समाधिपूर्वक सम्पन्न करना है, उसे अपने स्वस्थ जीवनकाल में ही समाधि करनी होगी। समाधि ऐसी कोई संजीवनी घुट्टी नहीं है, जिसे केवल मरते समय पिलाने से काम चल जाय। यह तो आत्मा की साधना है, आराधना है, जीवन जीने की कला है जिसकी जीवन भर साधना की जाती है।

इसी पवित्र भावना से जब मैंने एक बार समाधि पाठ सुनने की भावना व्यक्त की तो इस अज्ञानी जगत ने उस घटना को किस रूप में लिया - वह भी एक सुनने लायक मनोरंजक किस्सा बनकर रह गया।''

सदासुखी और विवेकी दोनों ही मेरे उस किस्से को सुनने का आग्रह करने लगे, किन्तु समय अधिक हो जाने से मैं उन्हें उस दिन वह किस्सा नहीं सुना पाया। अगले दिन सुनाने का आश्वासन देकर मैंने उनसे बिदा ले ली। वे अपने मन में उस किस्से को सुनने की अभिलाषा लिए उस दिन अपने-अपने घर चल दिये। ●

६

आषाढ़ मास का शुक्ल पक्ष था, समुद्र से मानसून उठने लगा था। बादल उमड़-घुमड़ रहे थे, बिजली कड़क रही थी, दो दिन से तो सूर्य के दर्शन भी नहीं हो रहे थे। मेरे प्रवास के छठवें दिन सवेरे से ही घनघोर घटायें छा गईं, मध्यान्ह तक तो उमस रही, पर अपरान्ह होते-होते मूसलाधार वर्षा प्रारंभ हो गई, जो शाम तक थमी ही नहीं। सब ओर जल ही जल दिखाई दे रहा था। छोटे-बड़े नदी-नाले भी उफन रहे थे, सड़कों पर घुटनों पानी था। ऐसी स्थिति में उस दिन सैर-सपाटे को निकलने की तो कोई सोच ही नहीं सकता था, संभव भी नहीं था।

बूढ़े-बच्चे - सभी अपने-अपने घरों के छज्जों से, दरवाजों, खिड़कियों एवं झरोखों से झाँक-झाँक कर वर्षा का आनंद ले रहे थे, पर सदासुखी और विवेकी बैचेन थे, वे प्रतीक्षा कर रहे थे कि पानी थोड़ा-सा भी थमे तो वे मेरे निवास स्थान पर आ जावें; क्योंकि मैं उन्हें समयाभाव के कारण कल पूरी बात सुना नहीं सका था। एतदर्थ उनके एक घंटे के अन्दर तीन-तीन फोन आ चुके थे, जो उनकी आतुरता के परिचायक थे।

ज्योंही बरसात थोड़ी-सी थमी नहीं कि वे दोनों मेरे आवास पर आ धमके और आते ही विवेकी बोला - ''हम ऐसी बरसात में भीगते हुए केवल आपका वह किस्सा सुनने आये हैं, जो कल कहते-कहते रह गया था। अतः आप अन्य कोई औपचारिकता किए बिना हमें तो सर्वप्रथम वही किस्सा सुनाइए।''

उनकी उत्सुकता देख मैंने कहा - ''हाँ, हाँ, सुनाते हैं, पहले जरा गरम तो हो लो, भीगते हुए जो आ रहे हो। और कुछ नहीं तो कम से कम एक-एक प्याला गरम-गरम चाय ही पी लो, फिर शान्ति से बैठकर वह प्रसंग भी सुनना।

सदासुखी बोला - ''भाईजी! हमें अभी किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं है, आप तो...''

''तुम्हें आवश्यकता नहीं है, यह ठीक है; पर हमारा भी कुछ कर्त्तव्य है या नहीं? अरे भाई! घर पर आये अतिथियों का कुछ न कुछ आतिथ्य तो होना ही चाहिए न?'' - मैंने कहा।

सदासुखी बोला - ''हम अभी चाय-पानी कुछ नहीं पियेंगे, आप अन्य कुछ विकल्प न करें। वैसे भी आप तो स्वयं प्रवासी हैं, परदेशी हैं। जब हम आपके घर आयेंगे, तब हम जी भर कर आपका आतिथ्य स्वीकार करेंगे। अभी तो आप हमारे मेहमान हैं, अतः यदि आप हमारा आमंत्रण स्वीकार कर कल हमारे घर पधारें तो बड़ी कृपा होगी। निश्चय ही आपके सान्निध्य से हमें बहुत लाभ मिलेगा। हमें आपसे बहुत बातें करनी हैं, बहुत-सी शंकाओं का समाधान करना है।

मैंने कहा - ''अरे भाई! यह तो अपनी भारतीय संस्कृति है, इसका निर्वाह तो होना ही चाहिए न?

और तुम घर की बात कहते हो सो भाई! जहाँ ठहरे हैं, वही घर। जलपान के लिए क्या घर? क्या परदेश? क्या परदेश में मैं भोजन नहीं करता या जलपान नहीं करता?

भले फूल न हो तो पाँखुड़ी ही सही; पर घर आये अतिथि का सत्कार तो होना ही चाहिए।''

आतिथ्य सत्कार की औपचारिकता के बाद मैंने अपनी बात प्रारंभ करते हुए कहा - ''बात बीस वर्ष पुरानी है, जब मेरी उम्र कोई सैंतीस-अड़तीस वर्ष की रही होगी। उस समय एक बार मुझे ऐसा बुखार आया, जिसके कारण मेरे अंग-अंग में असह्य वेदना हो रही थी, इसलिए मैंने अपनी पत्नी को बुलाकर कहा - 'तू मुझे कोई ऐसे आध्यात्मिक भजन सुना, कोई ऐसा शान्तिप्रदायक स्तोत्र और वैराग्यप्रेरक काव्यपाठ सुना; जिससे मेरा उपयोग बदले और मुझे पीड़ा चिंतन न हो। वह बेचारी सब

काम छोड़कर मेरे पास आ बैठी और जिनवाणी में से अच्छे-अच्छे स्तोत्र और भजन सुनाने लगी।

सुनाते-सुनाते उसकी दृष्टि समाधिमरण पाठ पर भी पड़ी। समाधिमरण पाठ वैराग्य-प्रेरक तो है ही, कर्णप्रिय भी है; अतः वह सहज भाव से समाधिमरण पाठ पढ़ने लगी। मैं भी उस पाठ के वैराग्य-प्रेरक प्रसंगों से प्रभावित होकर भावुकतावश मनोभावों को एकाग्र कर उसी में तन्मय हो अपनी शारीरिक पीड़ा को भूलने का प्रयत्न करने लगा। इसप्रकार उस दिन वे आध्यात्मिक भजन और स्तोत्रादि के पाठ मुझे 'रामबाण अचूक औषधि' साबित हुए। सचमुच मेरा उपयोग बदल जाने से दर्द की अनुभूति कम होने लगीं और मेरी कराहें कम हो गईं। मेरी कराहें कम होती देख मेरी पत्नी को और अधिक उत्साह आया और वह मधुर कंठ से उस समाधिमरण पाठ का जोर-जोर से सस्वर पाठ करने लगी -

भव-भव में सुर पदवी पाई, ताके सुख अति भोगे।
भव-भव में गति नरकतनी धर, दुःख पाये विधि योगे।।
भव-भव में तिर्यंच योनि धर, पायो दुःख अति भारी।
भव-भव में साधर्मीजन को, संग मिल्यो हितकारी।।
भव-भव में जिन पूजन कीनी, दान सुपात्रहिं दीनो।
भव-भव में मैं समवशरण में, देख्यो जिनगुण भीनो।।
ऐती वस्तु मिली भव-भव में, सम्यक्गुण नहीं पायो।
ना समाधियुत मरण कियो मैं, तातैं जग भरमायो।।
काल अनादि भयो जग भ्रमतें, सदा कुमरणहि कीनो।
एकबार हू सम्यक्युत मैं निज आतम नहिं चीनो।।
जो निज-पर को ज्ञान होय तो मरण समय दुःख काँई।
देह निवासी मैं निजभासी, योहिं स्वरूप सदाई।।
विषय-कषायन के वश होकर, देह आपनो जान्यो।
कर मिथ्या सरधान हिये बिच, आतम नाहिं पिछान्यो।।

यों क्लेश हिय धार मरणकर, चारों गति भरमायो।
सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चरन ये, हिरदै में नहिं लायो।।
धन्य-धन्य सुकौशल स्वामी, व्याघ्री ने तन खायो।
तो भी श्रीमुनि नेक डिगे नहिं, आतम सो चित लायो।।
यह उपसर्ग सहयो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तो तुमरे जिय कौन दुख है, मृत्युमहोत्सव भारी।।

पड़ौसियों ने भी वह आवाज सुनी और उन्हें आश्चर्य हुआ। अरे! यह कैसा स्वर सुनाई दे रहा है? किसका मृत्युमहोत्सव प्रारंभ हो गया है? अरे !! यह तो बहिनजी की आवाज है। कल तो भाईजी अच्छे भले-चंगे हँस-हँसकर बातें कर रहे थे, रात भर में यह क्या से क्या हो गया? एक-एक करके सभी अड़ौसी-पड़ौसी मेरा अन्तिम समय निकट समझकर, सहानुभूति की भावना प्रगट करने आने लगे।

एक ने कहा - 'अरे! अभी उम्र ही क्या है? पर मौत उम्र देखती ही कब है? अभी-अभी तो सुख देखने के दिन आये हैं, अब तक तो बिचारों ने दुःख ही दुःख देखा।'

दूसरा बोला - 'ऐसे सज्जन, संतोषी, परोपकारी विरले ही होते हैं, पर होनहार पर किसका वश चला है? जो जितनी आयु लेकर आया, उतना ही तो जियेगा।'

इस प्रकार नानाप्रकार की बातें होने लगीं। जबकि ऐसा कुछ भी नहीं घटा था। न कोई मरा था, न मरणासन्न ही था, मैं मात्र बुखार में था और अपना उपयोग बदलने, पीड़ा-चिन्तन आर्तध्यान से बचने एवं समता भाव से समय बिताने के लिए शान्तिपूर्वक समाधिमरण पाठ सुन रहा था।

पर इसमें उन बेचारे अड़ौसियो-पड़ौसियों का भी क्या दोष? उन्होंने तो समाधि पाठ पढ़ने का अर्थ ही यह मान रखा था, उनकी मानसिकता ही यह बन गई थी कि समाधिमरण केवल जीवन के अन्तिम क्षणों में सुनाया जाता है।

वस्तुतः अरहंत या राम का नाम सत्य, शिव एवं सुन्दर है और इनके नाम लेने से सद्गति होती है; परन्तु 'अरहंत नाम सत्य है, राम-नाम सत्य है, सत्य बोलो गत्य है' यह वाक्य आजकल शवयात्रा से जुड़ गया है, शव यात्रा के अर्थ में रूढ़ हो गया है, मौत का प्रतीक बन गया है; अतः इसे मृत्यु के अवसर के सिवाय अन्यत्र कहीं भी बोलना अशुभ या अपशकुन का सूचक माना जाने लगा है।

इस कारण जिस तरह शादी के अवसर पर 'अरहंत नाम सत्य है' एवं 'राम नाम सत्य है' नहीं बोला जा सकता, उसी तरह आज समाधि पाठ भी मृत्युकाल से जुड़ गया है, मरणासन्न दशा के साथ रूढ़ हो गया है इस कारण आज जगत की स्थिति यह है कि समाधिमरण का पाठ भी हर कोई व्यक्ति नहीं पढ़-सुन सकता। बीमारी में भी वयोवृद्ध मरणासन्न व्यक्तियों को ही समाधिमरण सुनने का सौभाग्य मिल पाता है। वह भी तब, जबकि उनकी पाँचों इन्द्रियाँ पूर्ण शिथिल हो जाती हैं, डॉक्टर जवाब दे देता है, व्यक्ति बेहोश हो जाता है, उसमें न सुनने की शक्ति बचती है, न सोचने-समझने की क्षमता। ऐसी स्थिति में सुनाने से लाभ भी क्या होने वाला है? कान में कोरा मंत्र देने से तो मुक्ति होगी नहीं। हमारी तो यही शुभकामना है कि किसी युवा या प्रौढ़ को मरण का प्रसंग ही न आये, पर मौत पर किसका वश चला है? कदाचित् किसी युवा की आयु पूर्ण हो गई तो उसे तो बिना समाधिमरण पाठ सुने ही मरना पड़ेगा, क्योंकि अंत तक भी युवाओं का मरना किसी को अभीष्ट नहीं होता।

वस्तुतः समाधि मृत्युमहोत्सव नहीं, जीवन जीने की कला है। इसे इसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए। पर ऐसा नहीं हो पा रहा है।

समाधिपाठ को मात्र मृत्यु के अवसर पर पढ़ने की वस्तु नहीं मानना चाहिए और न उसे मृत्यु से ही जोड़ना चाहिए। यह जीवन भर चिंतन करने का विषय है, ताकि साधक का मृत्यु के समय भी ज्ञान-वैराग्य जागृत रहे और उसे मोह की मार मूर्छित न कर सके।''

मैंने कहा - ''संयोग से जैसे-जैसे मैं दर्द भूलता गया, वैसे वैसे ही उस समय मेरी नींद गहराती गई और थोड़ी देर में गहरी नींद में सो गया। दर्द के कारण रात भर सो नहीं सका था, अतः नींद तो आनी ही थी सो आ गई और अड़ौस-पड़ौस में यह घटना उपहास का विषय बन गई। लोगों को ऐसा लगा मानों कोई मुर्दा जीवित हो उठा हो।''

मेरे ही ऊपर घटित इस घटना को सुनकर सदासुखी और विवेकी के हृदय में समाधि का सही स्वरूप जानने की एवं जीवन में अपनाने की जिज्ञासा जागृत हो गई।

उन्होंने संन्यास और समाधि लेने का संकल्प तो कर ही रखा था; क्योंकि वे अपने लौकिक जीवन से ऊब चुके थे और पारलौकिक जीवन को सुधारने की भावना रखते थे। अतः उन्हें तो मेरे रूप में अनायास ही ऐसा निमित्त मिल गया, जो शायद उन्हें चिराग लेकर ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलता। पर रात अधिक हो जाने से उस दिन अधिक चर्चा न हो सकी। अगले दिन पुनः मिलने की आशा से वे अपने-अपने घर चले गए।

●

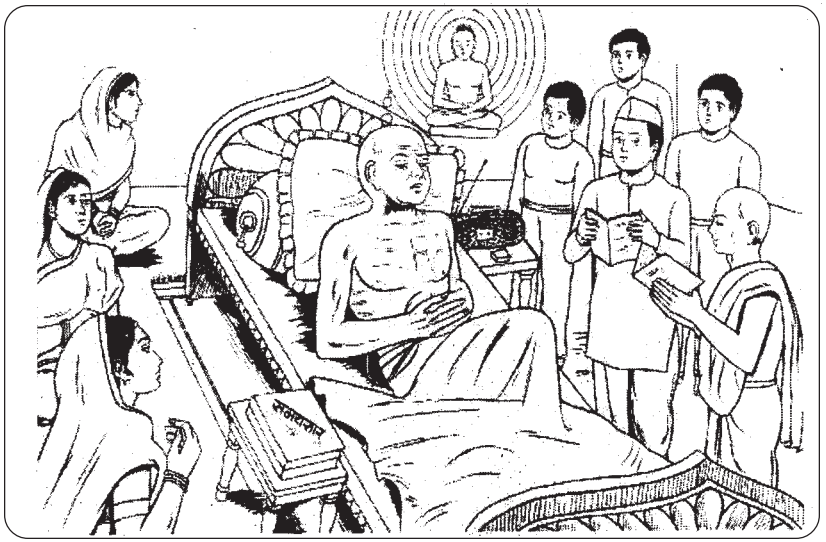

७

वही पहाड़ी प्रदेश, वही हरा-भरा उपवन, वैसा ही सुरम्य वातावरण, पर सदासुखी को अब सब कुछ बदला-बदला-सा लगने लगा था, उसका मन जो बदल गया था।

किसी ने ठीक ही कहा है - 'मन के जीते जीत हैं, मन के हारे हार।' सदासुखी का मन अब पहले की तरह विकथाओं में नहीं रमता था। उसकी भावना और विचारों में अब पहले की अपेक्षा जमीन-आसमान का अन्तर आ गया था।

उसके द्वारा स्वयं की भूलों को सहज भाव से स्वीकार करना और निरन्तर अपनी आलोचना-समालोचना करते रहना इसका प्रबल प्रमाण है।

जहाँ पहले उसकी बातचीत अधिकांश राजनीति व दूसरों की टीका-टिप्पणी पर ही केन्द्रित रहा करती थी, वहीं अब उसकी चर्चा के मुख्य विषय धर्मकथायें और तात्त्विक विषय बन गये थे।

मुझे उस पहाड़ी प्रदेश के प्रवास में पहुँचे कोई अधिक समय नहीं हुआ था। लगभग दो सप्ताह ही हुए होंगे, जिसमें भी प्रथम सप्ताह तो परोक्ष परिचय में यों ही बीत गया था। सदासुखी के निकट संपर्क में आये तो अभी मात्र सात दिन ही हुए थे। इस बीच उसके जीवन में आये चमत्कारिक परिवर्तन को देखकर मैं स्वयं चकित था।

कौन जाने किस जीव की कब काललब्धि आ जावे, किसकी परिणति में कब/क्या परिवर्तन आ जावे? किसका कब/कैसा भाग्योदय हो जावे? यही बात मौत के संबंध में भी लागू पड़ती है।

दुकानदारों के श्रीमुख से यह कहते कभी भी सुना जा सकता है कि - 'मौत का और ग्राहक का कोई भरोसा नहीं, कब आ टपके', पर बलिहारी है उन दुकानदारों की जो मौत का इंतजाम न करके ग्राहकों का ही इंतजार

करते रहते हैं। जो मुहावरा मौत से सावधान होने के लिए कहा गया हो, उसे ग्राहकों पर घटित करके दुकान न छोड़ने की प्रेरणा देना, किसी चतुर व्यापारी बाप का ही काम हो सकता है, जो अपने बेटों को इसतरह की प्रेरणा देते हैं।

पर, अब सदासुखी ऐसे दुकानदारों और व्यापारियों की श्रेणी से बहुत ऊपर उठ गया था। अब उसके सोचने का तरीका बिल्कुल बदल गया था। वह मौत के अर्थ को अच्छी तरह समझने लगा था। अतः वह दुकानदारी को ही तिलांजलि देकर मौत के मुख में जाने के पहले मौत को ही बेमौत मारने के इंतजाम में लग गया था, अमर होने के सम्यक् पुरुषार्थ में लग गया था।

-- -- --

पिछले सप्ताह से नियमित चल रही तत्त्वगोष्ठी में कल किसी कारणवश विवेकी उपस्थित नहीं हो सका तो सदासुखी को ऐसा लगा मानों विवेकी ने कोई बड़ी निधि खो दी हो, वह कोई बहुत बड़ी अपूरणीय क्षति कर बैठा हो। उसका मानना है कि विवेकी को किसी भी कीमत पर तत्त्वगोष्ठी जैसा स्वर्ण अवसर नहीं छोड़ना चाहिए। कहाँ मिलते हैं ऐसे मंगलमय प्रसंग? न जाने किस जन्म का पुण्य फला है, जो घर बैठे ज्ञानगंगा में गोते लगाने का सौभाग्य मिल रहा है।

अतः दूसरे दिन विवेकी के आते ही उसने उसे आड़े हाथों लिया और ऊँचे स्वर में कहा - ''विवेकी! तुम कल तत्त्वगोष्ठी में क्यों नहीं आये? इससे महत्त्वपूर्ण काम और क्या हो सकता है? तुम्हें यह तो ज्ञात ही है कि भाईजी मात्र हमारे-तुम्हारे लिए ही इतने दिनों से यहाँ रुके हुए हैं।''

सदासुखी का कठोर रुख देखकर विवेकी सकपका गया। वह अपनी सफाई में कुछ कहना ही चाहता था कि सदासुखी ने पुनः भारी असंतोष की मुद्रा में कहा - ''अब तुम्हारा घर-गृहस्थी का कोई भी बहाना मैं

नहीं सुनना चाहता। जिनके मोह में तुम इतने पागल हुए जा रहे हो, दुःख के दिनों में ये कोई काम नहीं आयेंगे और अब उन्हें तुम्हारे काम या सलाह की अपेक्षा भी कहाँ है? तुम केवल अपनी कमजोरी के कारण ही अपना अमूल्य समय खराब कर रहे हो। वे तुम्हें न भी छोड़ते हों तो तुम्हें तो अब उनसे एकत्व-ममत्व कम करना ही होगा।''

सदासुखी का नाराज होना अनुचित नहीं था, ठीक ही था; क्योंकि मित्र कहते ही उसे हैं, जो अपने मित्र को उसके हित में नियोजित करे, कल्याण के मार्ग में लगाये।

सदासुखी ने कुछ नम्र होते हुए पुनः कहा - ''देखो भाई! अब अपना दुनियादारी में उलझने का समय नहीं रहा। कल जब भाईजी ने अपने व्याख्यान में एक बात बहुत सटीक कही तो उस समय मुझे तुम्हारी बहुत याद आई। मैंने तुम्हें इधर-उधर बहुत देखा, पर तुम कहीं दिखाई ही नहीं दिए। तुम्हारी कल की अनुपस्थिति से मेरा उपयोग बहुत खराब होता रहा।''

विवेकी ने खेद प्रकट करते हुए जिज्ञासा प्रगट की - ''क्या कहा था भाईजी ने? कुछ बता सकोगे?''

''हाँ हाँ, क्यों नहीं? तू मुझे समझता क्या है? वैसे भी मैं भाईजी की प्रत्येक बात बड़े ध्यान से सुनता हूँ। फिर कल तो तेरे न आने से मेरी जिम्मेदारी और भी बढ़ गई थी। अतः मैंने एक-एक बात ध्यान से सुनी और धारणा में ली।''

सदासुखी ने मेरे व्याख्यान को अक्षरशः दुहराते हुए कहा - ''अरे भाई! स्त्री-पुत्रादि सभी परिजन-पुरजन स्वार्थ के ही साथी होते हैं। कोई कितनी भी मीठी-मीठी बातें क्यों न करे, कैसे भी आश्वासन क्यों न दें; पर समय पर कोई काम नहीं आता, कोई भी दुःख के दिनों में सहभागी नहीं बनता। कदाचित् कोई बनना भी चाहे तो वस्तुव्यवस्था को ही किसी

में किसी का हस्तक्षेप स्वीकृत नहीं है। वस्तुव्यवस्था में ऐसा कोई प्रावधान ही नहीं है कि कोई किसी के सुख-दुःख में सहभागी बन सकें।''

शास्त्रों का उल्लेख करते हुए भाईजी ने कहा - देखो न! साफ-साफ लिखा है - 'सुतदारा होय न सीरी, सब स्वारथ के हैं भीरी।'

शास्त्रों की बातें गलत थोड़े ही होती हैं।

भाईजी ने एक अन्य भजन की भी कुछ पंक्तियाँ सुनाई थी, जिनके कतिपय बोल इस प्रकार हैं :-

'तन कोई छूता नहीं, चेतन निकल जाने के बाद।
फैंक देते फूल को, खुशबू निकल जाने के बाद।।
छोड़ देता माँ को बछड़ा, पय निकल जाने के बाद।'

शायद अगली पंक्ति भाईजी भूल रहे थे, जब तक वे सोचने को रुके, तब तक मेरे मुँह से निकल गया - ''कह दो, कह दो भाईजी! कह दो कि -

बेटे माँ-बाप को भी छोड़ देते, स्वार्थ सध जाने के बाद।।''

मेरा इतना कहना था कि सब श्रोताओं की दृष्टि मेरी और मुड़ गई।

अपनी ओर सबकी दृष्टि देखकर पहले तो मैं कुछ झेंपा; क्योंकि मैंने अनाधिकार चेष्टा जो कर डाली थी। मुझे व्याख्यान के बीच में बोलने की धृष्टता नहीं करनी चाहिए थी और मैं यह गुस्ताखी कर बैठा था। पर जब मैंने सबको मुस्कुराते और सराहना के स्वर में वाह! वाह!! करते सुना तो मुझे ऐसा लगा कि - ''जैसे मैंने कोई बहुत बड़े विवेक की बात कह दी है, अन्यथा वे व्याख्यान के बीच में वाह! वाह!! क्यों करते?''

वस्तुतः वह बुजुर्गों के दिलों का दर्द था, जो मेरे मुँह से अनायास फूट पड़ा था। अतः सबका प्रसन्न होना तो स्वाभाविक ही था। भाईजी ने भी मेरी बात का ही समर्थन करते हुए मेरी वही पंक्ति बार-बार दुहराई।

''बेटे माँ-बाप को भी छोड़ देते.... ।''

सदासुखी के मुँह से ये बातें सुनकर विवेकी भी उछल पड़ा था और वह भी वाह-वाह करता हुआ बोला - ''वाह! सदासुखी तुमने तो कमाल कर दिया।''

''क्या खाक कमाल कर दिया। तुम तो ऐसे दाद दे रहे हो जैसे मैं कोई बहुत बड़ा कवि या शायर बन गया होऊँ। अरे भाई! मेरे मुँह से तो टूटे-फूटे शब्दों में केवल मेरे और जनता के दिल का दर्द निकला था।''

विवेकी ने कहा - ''कवि भी तो ऐसे ही बनते हैं - आपको पता नहीं, बाल्मीकि महाकवि कैसे बने थे?''

उनको लक्ष्य करके ही कवि सुमित्रानंदन पंत ने यह कहा है :-

'वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान।।'

सदासुखी ने आगे कहा - ''भाईजी ने अपने व्याख्यान में एक कहानी के माध्यम से इस स्वार्थी जगत का जो शब्दचित्र प्रस्तुत किया था, वह मोहनींद में सोए हम-तुम जैसे सब जीवों की आँखें खोलने के लिए पर्याप्त था।

विवेकी ने अपनी भूल का अहसास करते हुए पुनः कहा - ''भाई! मुझसे सचमुच भूल हुई है कि मैंने ऐसा स्वर्ण अवसर खो दिया। यदि तुम सुना सकते हो तो वह कहानी भी अवश्य सुनाओ। मैं भविष्य में समय पर प्रतिदिन उपस्थित रहने का पूरा-पूरा प्रयत्न करूँगा।''

विवेकी के अनुरोध पर सदासुखी ने भाईजी के व्याख्यान में सुनी कहानी को सुनाते हुए कहा - ''एक सेठ था, जिसका नाम था खुशीराम। दुनिया की दृष्टि में खुशीराम सब ओर से सुखी था, साठ वर्ष का होते हुए भी पूर्ण स्वस्थ था, अटूट संपत्ति थी, कल-कारखानों से असीमित आय, पाँच-पाँच लड़के, उनकी एक से बढ़कर एक सुन्दर व सुशील बहुएँ, किलकारियों से घर का कोना-कोना गुंजाते पोते-पोतियाँ कुलवंती नारी,

आज्ञाकारी पुत्र, अनुकूल अड़ौसी-पड़ौसी, सेवाभावी नौकर-चाकर सभी सदैव उनकी सेवा में समर्पित, विलायती गाड़ियाँ, बड़े-बड़े बंगले। क्या नहीं था उसके पास? एक तत्त्वज्ञान के सिवाय सब कुछ तो था।

भाग्योदय से ज्ञानियों के जीवन में यदि ऐसा बनाव बन भी जावे तो वे तो इस ठाठ-बाट की क्षण-भंगुरता को भली-भाँति जानते हैं, अतः वे इस ठाठ-बाट से तन्मय नहीं होते, प्रभावित भी नहीं होते। पर यदि यही सब अनुकूल संयोग अज्ञानियों को मिल जायें तो उन्हें अपच हुए बिना नहीं रहता, अभिमान हुए बिना नहीं रहता।

सेठ खुशीराम को भी यह सब पचा नहीं था, इस कारण अब वह आसमान में उड़ाने भरने लगा था। अब उसका पाँव जमीन पर टिकता ही नहीं था, वह अपने आगे किसी को कुछ समझता ही नहीं था। किसी से सीधे मुँह बात करना तो मानो वह भूल-सा ही गया था और नीचे की ओर देखना भी अब उसकी आदत में नहीं रहा था। पर सबके दिन सदा एक से नहीं रहते। वह भी उन्हीं में से एक था, जो जल्दी ही जमीन पर आ गिरा।

एक बार वह ऐसा बीमार पड़ा कि लाखों प्रयत्नों के बावजूद भी स्वस्थ नहीं हुआ। जब वह सब ओर से निराश हो गया तो उसे भगवान याद आये। दैवयोग से एक दिन अनायास उसके घर एक महात्माजी आ पहुँचे।

महात्माजी ने सेठ को साठोत्तर एवं अत्यधिक अस्वस्थ देखकर शेष जीवन को धर्म आराधनापूर्वक बिताने की सलाह दी।

उन्होंने कहा - ''देखो सेठ! मैं अपने निमित्तज्ञान से तुम्हारे भूत व भविष्य को अच्छी तरह जानता हूँ। तुम्हारे पुण्योदय से तुम्हारा भूतकाल तो बहुत ही अच्छा बीता है, पर तुम्हारी वर्तमान परिणति देखते हुए मुझे तुम्हारा भविष्य सुखद दिखाई नहीं देता। अब तुम्हारा पुण्य क्षीण हो चला है, इस कारण बुढ़ापे में तो सुख शांति दीखती ही नहीं, अगला जन्म भी

अंधकारमय दिखाई देता है। अतः मेरी सलाह मानो तो तुम अपना शेष जीवन ज्ञान-वैराग्य सहित समतापूर्वक बिताओ। ताकि तुम्हें वर्तमान में भी आकुलताजनित दुःख की अनुभूति न हो और अगला जन्म भी सुधर सके।''

सेठ ने कहा - ''महात्माजी! हम ज्ञान-वैराग्य क्या जानें? हमसे तो आप यदि दान-पुण्य करने को कहो तो हम लाख दो लाख रुपया खर्च कर सकते हैं, पूजापाठ करा सकते हैं। पर, अब बुढ़ापे में पढ़ने-लिखने और स्वाध्याय करने की शक्ति ही हममें कहाँ? अब संयम-नियम से रहना भी हमारे वश की बात नहीं है।''

स्त्री-पुत्र कुटुम्ब-परिवार के व्यामोह में पड़े सेठ की पात्रता देख महात्माजी ने सर्वप्रथम सेठ को संसार, शरीर और भोगों से अरुचि उत्पन्न कराने के लिए इस स्वार्थी जगत का स्वरूप समझाने का प्रयत्न किया।

महात्माजी ने कहा - ''देखो सेठ! तुम जिन स्त्री-पुत्र, कुटुम्ब-परिवार के मोह-जाल में उलझकर अपना अमूल्य मानव जीवन बर्बाद कर रहे हो, अपने हिताहित को बिल्कुल भूल बैठे हो, अपने भविष्य को अंधकारमय बना रहे हो, वे कोई भी तुम्हें दुःख के दिनों में काम नहीं आयेंगे। यह जगत बड़ा स्वार्थी है। जिन्हें तुम अपना कहते हो, ये सब स्वार्थ के ही सगे हैं। अतः तुम कुटुम्ब-परिवार के मोह में पड़कर अब अधिक पाप में न पड़ो। पाप का फल तो तुम्हें अकेले ही भोगना पड़ेगा।''

''महाराज! मैं आप से मुँहजोरी तो नहीं कर सकता, आप जो कहेंगे, मैं आपकी आज्ञा पालन करने की कोशिश करूँगा, पर आपने जो मेरे कुटुम्ब-परिवार पर संदेह प्रगट किया, उन्हें स्वार्थी बताया - इस बात पर मुझे विश्वास नहीं; क्योंकि मुझे अपने परिवार पर पूरा भरोसा है। वे मेरे लिए तो अपने प्राण तक समर्पित करने को हर समय तैयार रहते हैं। भला ऐसे परिवार के बीच में मेरा बुढ़ापा दुःखद कैसे हो सकता है?

आपको पता नहीं है, मेरे स्त्री-पुत्र आदि मुझे एक क्षण भी दुःखी नहीं देख सकते। वैसे अगला जन्म तो देखा किसने है? फिर भी मैंने मौके-मौके पर भारी दान-पुण्य करके पूजा-पाठ कराके, तीर्थों के यात्रा संघ निकालकर, मंदिर वगैरह बनवाकर अपने अगले जन्म का भी कुछ-कुछ इंतजाम कर ही लिया है।''

सेठ की बातें सुनकर महात्माजी मुस्कुराये। उन्होंने कहा - ''सेठ! तुम बहुत भोले हो। जब तुम्हें पुनर्जन्म और पुण्य-पाप में विश्वास ही नहीं है तो धरम-करम करके यह रिजर्वेशन कहाँ का करा लिया है?

सेठ! अभी तक तुमने पूर्व पुण्योदय से सब ओर से कुटुम्ब-परिवार की अनुकूलता ही देखी है। प्रतिकूलता का प्रसंग तो अब प्राप्त हुआ है। तुम अब देखना कि कौन/कितना समर्पण करता है?''

सेठ ने आत्मविश्वास प्रगट करते हुए कहा - ''मैं आपकी इस बात से सहमत नहीं हूँ, ऐसा कहकर आपने मेरे परिजनों का अपमान किया है।''

महात्माजी ने कहा - ''देखो सेठ! यह तुम नहीं, तुम्हारा मोह बोल रहा है, अहंकार बोल रहा है। भले ही अभी तुम्हें मेरी बात पर विश्वास नहीं हो रहा है, पर कभी न कभी तुम्हें मेरी बात माननी ही होगी।

यदि तुम्हें मेरे निमित्तज्ञान पर जरा भी विश्वास हो तो उसके अनुसार तुम्हें इतना तो मानना ही पड़ेगा कि अब तुम्हारी जिंदगी केवल चंद दिनों की रह गई है। अतः तुम्हारे जो अति आवश्यक काम हैं, उन्हें शीघ्र पूरा कर लो, अन्यथा यहाँ का सब कुछ तो अधूरा छोड़कर ही जाना होगा, अगले जन्मों में भी तुम्हारा अतृप्त आत्मा सुख-शांति प्राप्त नहीं कर सकेगा। अतः तुम्हें यह सब विकल्प तोड़कर अपने कल्याण के मार्ग में लग जाना चाहिए।''

महात्माजी से अपनी मौत की बात सुनकर सेठ की आँखों के आगे अँधेरा छा गया, वह हक्का-बक्का रह गया।

परिस्थिति का लाभ उठाते हुए महात्माजी ने सेठ के कान में कुछ कहा - सेठ सुनते ही मूर्छित हो मरण तुल्य हो गया।

अनायास सेठ की यह स्थिति देखकर घर के सभी लोग घबड़ा गये। किसी की समझ में कुछ नहीं आ रहा था कि देखते ही देखते यह क्या हो गया, अभी तो सेठजी महात्माजी से अच्छी भली बातें कर रहे थे और अभी-अभी चल बसे।

फिर क्या था, तत्काल सभी उनसे प्राप्त होने वाले अपने-अपने सुखों को, स्वार्थों को याद कर-करके रोने लगे।

रात्रि के दस बज रहे थे, इस कारण रातभर का समय तो उनके शव के पास बैठकर सबको गुजारना ही था। आधा-पौन घंटे रोने की औपचारिकता पूरी करके सब घर-बाहर की बातें करने लगे। भविष्य की रूपरेखायें बनने लगीं। इसी बीच संपत्ति के स्वामित्व और बँटवारे की बातें भी प्रारंभ हो गईं। बेटे-बेटियों और भाई-बंधुओं में एक अलग प्रकार की सुगबुगाहट शुरु हो गई। बेटे-बेटियों और भाई-बंधु बड़ी ही बेशर्मी से संपत्ति पर अपना-अपना एकाधिकार जताने के चक्कर में थे। सभी सेठ पर पक्षपात के आरोप लगा-लगाकर उनको बुरा-भला कह रहे थे।

उन बेचारों को क्या पता था कि सेठजी मरे नहीं थे, बल्कि महात्माजी की योजना के अनुसार अपने परिवार की परीक्षा करने के लिए, उनकी भावनाओं को परखने के लिए महात्माजी के द्वारा ही कान में फूँके गये मंत्र के मुताबिक मरने का नाटक कर रहे थे। ऐसी स्थिति में वहाँ जो भी बातें हुईं थीं, उन्हें सुनकर सेठजी को महात्माजी की बातों पर कुछ-कुछ विश्वास हो चला था।

यद्यपि सेठ को अपने परिजनों की बातों से उनके ऊपर क्रोध आ रहा था, पर वह सेठ उन लोगों की भावनाओं को और गहराई से जानना चाहता था, अतः चुपचाप वैसे ही आँखें बंद किए मृतवत् रात भर पड़ा रहा और उनकी बातें सुनता रहा। इससे उसका मन उनके प्रति ग्लानि से भर गया। जितना उसे उनके प्रति राग था, उससे कहीं अधिक द्वेष हो गया।

प्रातः होते ही महात्माजी फिर सेठ के घर सहानुभूति दर्शाने के बहाने आ धमके। और सेठ के घर के सभी सदस्यों को बुलाया तथा एक कटोरे में जल को मंत्रित करके एक-एक कर सबसे कहा कि जो इस जल को पी लेगा, उसके जीवन के बीस-बीस वर्ष सेठजी को मिल जायेंगे। फिर तुम्हारे अंतिम समय तक सेठजी तुम्हारे साथ रह सकेंगे। यदि एक ही व्यक्ति अपने जीवन के बीस वर्ष नहीं देना चाहता तो पति-पत्नी दोनों मिलकर भी आधा-आधा पानी पीलें तो दोनों अपने जीवन के दस-दस वर्ष भी दे सकते हैं।

सभी एक दूसरे का मुँह ताकने लगे, बहुत प्रतीक्षा करने के बाद जब कोई भी आगे नहीं आया तो मृतवत् पड़े सेठ को और भी अधिक क्रोध आया, वह आग-बबूला हो गया, क्रोध में उसके ओठ थर-थर कांपने लगे। वह चिल्लाया - ''सब हट जाओ मेरे सामने से। अब मेरी समझ में अच्छी तरह आ गया कि तुम लोग कितने स्वार्थी हो? आज तुमने मेरा भ्रम भंग कर दिया है, मेरी आँखें खोल दी हैं। अब समझ में आया कि महात्माजी का कहना शत-प्रतिशत सही था, जिस पर अब तक मैंने विश्वास नहीं किया था।''

महात्माजी ने सेठ को शांत करते हुए कहा - ''भाई! इसमें इन लोगों का कोई दोष नहीं है। तुम्हीं भ्रम में थे। ये लोग अपनी आयु तुम्हें देना भी चाहें तो भी नहीं दे सकते।

लोक की स्व-संचालित वस्तु व्यवस्था में ऐसा कुछ भी संभव नहीं है; जो ऐसा मानते हैं या कहते हैं, वे स्वयं को एवं दूसरों को धोखा देते हैं। जो निश्चित है, उसे कौन पलट सकता है?''

महात्माजी ने सेठ से आगे कहा - ''कोई किसी को सुखी-दुःखी नहीं कर सकता, जीवन-मरण नहीं दे सकता; क्योंकि कोई किसी को अपने पुण्य-पाप नहीं दे सकता, आयु नहीं दे सकता।''

देखो न! समयसार के बंध अधिकार में आचार्य कुंदकुंद ने कितना स्पष्ट लिखा है -

मैं मारता हूँ अन्य को, या मुझे मारें अन्यजन।
यह मान्यता अज्ञान है, जिनवर कहें हे भव्यजन।।
निज आयुक्षय से मरण हो, यह बात जिनवर ने कही।
तुम मार कैसे सकोगे जब, आयु हर सकते नहीं?।।
निज आयुक्षय से मरण हो, यह बात जिनवर ने कही।
वे मरण कैसे करें तब, जब आयु हर सकते नहीं?।।
मैं हूँ बचाता अन्य को, मुझको बचावे अन्यजन।
यह मान्यता अज्ञान है, जिनवर कहे हे भव्यजन।।
सब आयु से जीवित रहें, यह बात जिनवर ने कही।
जीवित रखोगे किस तरह, जब आयु दे सकते नहीं?।।
सब आयु से जीवित रहें, यह बात जिनवर ने कही।
कैसे बचावें दे तुझे जब, आयु दे सकते नहीं?।।
मैं सुखी करता दुःखी करता हूँ, जगत में अन्य को।
यह मान्यता अज्ञान है, क्यों ज्ञानियों को मान्य हो?।।

इसप्रकार सभी जीव अपने किए पुण्य-पाप का फल ही भोगते हैं। अन्य कोई किसी को सुखी-दुःखी नहीं कर सकता। यदि कोई अन्य किसी अन्य को सुखी-दुःखी कर सके तो स्वयं किए पुण्य-पाप का क्या होगा? अतः किसी अन्य के प्रति राग-द्वेष करना व्यर्थ है।

ज्ञानी ऐसी श्रद्धा के बल से ही कषायें कृश करते हैं, मोह-राग-द्वेष का वमन करके समताभाव धारण करते हैं। तथा संसार, शरीर व भोगों की असारता का बारम्बार विचार करके सांसारिक सुखों से संन्यास ले लेते हैं, विरागी होकर मुनिधर्म साधन द्वारा स्वरूप की प्राप्ति करते हैं। यही जीवन जीने की कला है जिससे हम अब तक अनभिज्ञ रहे हैं। यदि सच्चा सुख प्राप्त करना हो तो हमें भी इन सबसे संन्यास लेकर पंचपरमेष्ठी और शुद्धात्मा की शरण में आना होगा। एतदर्थ पंडित जयचन्दजी छाबड़ा की निम्नांकित पंक्तियाँ बारंबार स्मरणीय हैं :-

''शुद्धातम अरु पंचगुरु, जग में शरणा दोय।
मोह उदय जिय के वृथा, आन कल्पना होय।।''

महात्माजी के इस संदेश को सुनकर सेठ के नेत्र खुल गये और उन्होंने जगत से संन्यास लेने का दृढ़ संकल्प कर महात्माजी से संन्यास व समाधि के संबंध में विस्तार से समझने का निवेदन किया।

महात्माजी ने कहा - ''संसार, शरीर व भोगों को असार, क्षणिक एवं नाशवान तथा दुःखस्वरूप व दुःख का कारण मानकर उनसे विरक्त होना ही संन्यास है। तथा समता भाव को समाधि कहते हैं।

शास्त्रीय शब्दों में कहें तो, कषायरहित शांत परिणामों का नाम ही समाधि है।

तत्त्वों का मनन, मिथ्यात्व का वमन, कषायों का शमन, इंद्रियों का दमन, आत्मा में रमण - यही सब तो समाधि है, जो अब तुम्हें करनी है।

समाधि के लिए सर्वप्रथम स्वरूप की समझ अत्यावश्यक है तथा यह स्वरूप की समझ पंचपरमेष्ठी की पहचानपूर्वक होती है और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ श्रद्धा उसमें निमित्त होती है। एतदर्थ सर्वप्रथम तुम्हें देव-शास्त्र-गुरु की शरण में आना होगा, पंचपरमेष्ठी का स्वरूप समझना होगा।

पुरुषों की अनगिनत कलाओं में दो कलायें ही प्रमुख हैं - एक जीविका दूसरी जीवोद्धार। पहली कला में तो तुम सफल रहे ही हो। दूसरी कला को भी तुम हासिल करो। संन्यासपूर्वक समाधि की साधना करके अपने शेष जीवन को भी सार्थक कर लो।

इस तरह महात्माजी की प्रेरणा एवं प्रयासों से तथा स्वयं की भली होनहार से शेठ को सन्मार्ग मिल गया।

इस मार्मिक कहानी को जब सदासुखी के मुख से विवेकी ने सुना तो वह भी गद्‌गद हो गया और उसका विवेक भी जागृत हो गया।

विवेकी को ऐसा लगा – ''मानो यह उसी के जीवन की कहानी है। अतः उसने भी इस दिशा में सक्रिय होने का संकल्प कर लिया।''

सदासुखी के मुख से अपने व्याख्यान को अक्षरशः दुहराते और दोनों के जीवन को इस तरह प्रभावित और परिवर्तित होता देख मुझे अपना सारा श्रम सार्थक लगने लगा।

मुझे इस बात से पूर्ण संतोष व भारी प्रसन्नता हुई कि भले ही जीवन के उत्तरार्द्ध में ही सही, पर सदासुखी व विवेकी दोनों ही सन्मार्ग पर आ गये।

यही तो मानव जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है, जो उन्हें मेरे निमित्त से उस पहाड़ी प्रदेश में भी मिल रही थी। इसी से तो यह कहा जाता है कि – जब भली होनहार होती है तो विपत्ति भी सम्पत्ति बन जाती है और निमित्त भी आकाश से उतर आते हैं।

देखो न! मैं भी तो उस वन प्रदेश में आकाश से उतर कर ही तो गया था। इसमें मेरा क्या है, उनकी योग्यता से ही यह सब सहज बनाव बन गया था।

अब मैं अवसर पाते ही उन्हें 'समाधि, साधना और सिद्धि' विषय को अच्छी तरह समझाने का प्रयास करूँगा।

●

८

''जगत में सदासुखी और विवेकी जैसे जिज्ञासु जीव भी विरले ही होते हैं, जो जगत के स्वरूप को जानकर – संसार, शरीर और भोगों की असारता को पहचान कर अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में आत्मा-परमात्मा के स्वरूप को, धर्म के स्वरूप को जानने की जिज्ञासा प्रगट करते हैं। अपना शेष जीवन समता से, निष्कषायभाव से समाधिपूर्वक जीना चाहते हैं।

अधिकांश व्यक्ति तो ऐसे होते हैं जो प्रतिकूल परिस्थितियों से घबड़ाकर, जीवन से निराश होकर जल्दी ही भगवान को प्यारे हो जाना चाहते हैं, दुःखद वातावरण से छुटकारा पाने के लिए समय से पहले ही मर जाना चाहते हैं। सौभाग्य से यदि अनुकूलतायें मिल गईं तो आयु से भी अधिक जीने की निष्फल कामना करते-करते अति संक्लेश भाव से मर कर कुगति के पात्र बनते हैं।

ऐसे लोग दोनों ही परिस्थितियों में जीवन भर जगत के जीवों के साथ और अपने-आपके साथ संघर्ष करते-करते ही मर जाते हैं। वे राग-द्वेष से ऊपर नहीं उठ पाते, कषाय-चक्र से बाहर नहीं निकल पाते। मुझे सदासुखी व विवेकी की अतृप्त जिज्ञासा को तो शांत करना ही चाहिए, इनकी शंकाओं का समाधान तो होना ही चाहिए, अन्यथा ये भी कहीं भी भटक सकते हैं। इनके लिए मुझे भले ही कुछ भी त्याग क्यों न करना पड़े, मैं अवश्य करूँगा। मुझे अभी घर जल्दी जाकर करना भी क्या है? और यदि कुछ करना भी हो तो इससे बढ़िया काम और क्या हो सकता है?''

इस प्रकार सोचते-विचारते थोड़ी देर तो मैं असमंजस में रहा, अनन्तः मैंने एक सप्ताह और वहाँ रुकने का कार्यक्रम बना ही लिया।

यद्यपि मुझे घर जाने की कोई जल्दी नहीं थी, पर निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार मेरे प्रवास का समय समाप्त हो गया था, अतः मुझे समय पर घर वापिस पहुँचना आवश्यक लग रहा था, ताकि मेरे कारण घर-परिवार वालों को आकुलता न हो। पर उन लोगों की अतृप्त जिज्ञासा को यों ही छोड़कर चले जाना मेरे मन को स्वीकृत नहीं हुआ।

पिछले दो सप्ताह तक तो मैं एकांत में चिन्तन-मनन की दृष्टि से सब परिवारजनों से स्पष्ट कहकर अज्ञातवास में रहा था। पर अब मुझे अपने रुकने के लिए आगामी कार्यक्रम की सूचना देना आवश्यक हो गया था, अन्यथा सभी लोग चिन्तित हो उठते।

मेरा समाचार घर पहुँचा ही था कि दूसरे ही दिन मेरी धर्मपत्नी वहाँ आ पहुँची। मानो वह मेरे पत्र की प्रतीक्षा ही कर रही थी।

पत्नी को अचानक वहाँ पहुँचा देख मैं आश्चर्य में डूब गया।

मुझे विचार आया कि जिसे मैं अज्ञातवास में आते समय एक सहधर्मी पति के कर्त्तव्य के नाते धर्म लाभ हेतु साथ में चलने को कह-कह कर थक गया था, वही आज अचानक अपने पोते-पोतियों और बहू-बेटियों से मोह तोड़कर, घर-द्वार को उनके भरोसे छोड़कर एवं विषय-कषायों से मुँह मोड़कर यहाँ सत्संग करने कैसे आ गई?

चलो, कोई बात नहीं, 'जब जाग जाये तभी है सवेरा' - यह सोचकर मैं मन ही मन खुश था।

मैं सोच रहा था - ''जो पत्नियाँ केवल विषय-कषाय एवं राग-रंग में ही सहभागी बनती हैं, धर्मसाधन में साथ नहीं रहती, उन्हें तो धर्मपत्नी कहलाने का अधिकार ही नहीं है। संभवतः मेरी पत्नी अब सच्चे अर्थों में धर्मपत्नी बन जायेगी।''

हुआ भी यही, वह वहाँ मेरे साथ एक सप्ताह घर के सब संकल्प-विकल्पों को छोड़कर सदासुखी, विवेकी तथा वहाँ के सामान्य श्रावक-श्राविकाओं के साथ हुई सामूहिक तत्त्वगोष्ठियों में सक्रिय भाग लेती रही।

इससे उसके जीवन में तो आमूल-चूल परिवर्तन हुआ ही, उससे अन्य अनेक स्थानीय महिलाओं ने भी प्रेरणा ली।

-- -- --

बातचीत के बीच विवेकी ने पूछा - ''भाईजी! उस दिन आपने कहा था - 'निष्कषाय भाव या शांत परिणामों का दूसरा नाम ही समाधि है और वह निष्कषाय भाव या कषायों का शमन वस्तुस्वरूप की यथार्थ समझ से ही होता है।' अतः मैं जानना चाहता हूँ कि वस्तुस्वरूप की समझ से आपका क्या तात्पर्य है?''

विवेकी की वस्तुस्वरूप को समझने की जिज्ञासा देखकर मुझे प्रसन्नता हुई और मैंने जिनागम के अनुसार वस्तुस्वरूप की व्याख्या करते हुए बताया -

''लोक के सभी द्रव्यों को, पदार्थों को वस्तुत्वगुण के कारण वस्तु भी कहते हैं। इन सभी वस्तुओं का स्वरूप पूर्ण स्वतंत्र व स्वाधीन है। आत्मा भी एक अखण्ड, अविनाशी, अनादि-अनंत, ज्ञानानन्दस्वभावी, पूर्ण स्वतंत्र वस्तु है। ज्ञाता-दृष्टा रहना उसका स्वभाव है। क्रोधादि करना आत्मा का स्वभाव नहीं, विभाव है। स्वभाव से विपरीत भाव को विभाव कहते हैं। काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ आदि के भाव आत्मा के विपरीत भाव हैं। अतः ये सब विभाव है।

जब तक यह जीव वस्तुस्वातंत्र्य के इस सिद्धान्त को नहीं समझेगा और क्रोधादि विभाव भावों को ही स्वभाव मानता रहेगा, अपने को पर का कर्त्ता-धर्त्ता मानता रहेगा तब तक समता एवं समाधि का प्राप्त होना संभव नहीं है।''

एक जिज्ञासु ने प्रश्न किया - ''वस्तुस्वातंत्र्य की समझ से समता कैसे आती है?''

मैंने कहा - ''तुमने बहुत अच्छा प्रश्न किया है - अब जरा ध्यान से सुनो! इन दोनों का परस्पर चोली-दामन जैसा अत्यन्त निकट संबंध है। प्रत्येक वस्तु या लोक के सभी पदार्थ पूर्ण स्वतंत्र और स्वावलंबी हैं। कोई

भी द्रव्य किसी परद्रव्य के अधीन नहीं है, एक द्रव्य का कर्त्ता-भोक्ता भी नहीं है। ऐसे श्रद्धान व समझ से ही समता आती है, कषायें कम होती हैं, राग-द्वेष का अभाव होता है।

बस, इसी प्रकार के श्रद्धान-ज्ञान व आचरण से आत्मा निष्कषाय होकर समाधिमय जीवन जी सकता है।''

दूसरा नया जिज्ञासु बोला, ''इस समाधि की चर्चा का अभी क्या काम? यह तो मरते समय धारण करने की वस्तु है न?''

मैंने कहा - ''ऐसी बात नहीं है, मरते समय तो समाधिरूप वृक्ष के फल खाए जाते हैं, बीज तो अभी ही बोना होगा; तभी तो उस समय फल मिलेगा।

सुनो! ध्यान से अनुभवियों की बातें सुनों! क्या कहते हैं ज्ञानीजन?

'दर्शन-ज्ञान-चरित्र को, प्रीतिसहित अपनाय।
च्युत न होय स्वभाव से, वह समाधि को पाय।।'

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की समृद्धि-वृद्धि ही समाधि है। महापुराण के इक्कीसवें अध्याय में कहा है कि 'उत्तम परिणामों में चित्त को स्थिर करना ही यथार्थ समाधि है। अथवा पंचपरमेष्ठियों के स्मरण को समाधि कहते हैं।'

भगवती आराधना में समाधि के संबंध में ऐसा लिखा है कि सम शब्द का अर्थ है एक रूप करना, मन को एकाग्र करना। शुभोपयोग में मन को एकाग्र करना समाधि शब्द का अर्थ है।

नियमसार गाथा एक सौ बाईस में समाधि की चर्चा करते हुए कहा है कि - 'वचनोच्चारण की क्रिया का परित्याग कर वीतरागभाव से जो आत्मा को ध्याता है, उसे समाधि कहते हैं।'

परमात्मप्रकाश की एक सौ नब्बे वीं गाथा में परम समाधि की व्याख्या करते हुए ऐसा कहा है कि - 'समस्त विकल्पों के नाश होने को परमसमाधि कहते हैं।'

इसी कारण साधक समस्त शुभाशुभ विकल्पों को छोड़ने की भावना भाते हैं, उन्हें हेय मानते हैं।''

तीसरे जिज्ञासु ने पूछा - ''क्या ध्यान, योग और समाधि में कुछ अन्तर है?''

मैंने कहा - ''ध्यान से सुनो, नए-नए प्रश्नों के चक्कर में पहला प्रश्न अधूरा रह जायेगा। ध्यान के प्रकरण में ऐसा कहा जाता है कि - ''ध्येय और ध्याता का एकीकरण रूप समरसीभाव ही समाधि है।''

योग और समाधि में अन्तर स्पष्ट करते हुए स्याद्वादमंजरी की टीका में ऐसा कहा है कि - 'बाह्यजल्प और अन्तर्जल्प के त्यागस्वरूप तो योग है तथा स्वरूप में चित्त का निरोध करना समाधि है।'

तुम्हारे प्रश्नका उत्तर इसी में आ जायेगा। इसप्रकार जहाँ भी आगम में समाधि के स्वरूप की चर्चा आई है, उसे जीवन की साधना, आत्मा की आराधना और ध्यान आदि निर्विकल्प भावों से ही जोड़ा है, न कि मरण से। अतः समाधि प्राप्त करने के लिए मरण की प्रतीक्षा करने के बजाय जीने की कला सीखना जरूरी है, जो सर्वज्ञ स्वभावी आत्मा की यथार्थ समझ से ही संभव है।

तत्त्वज्ञान के अभ्यास के बल से जिनके जीवन में ऐसी समाधि होगी, उनका मरण भी नियम से समाधिपूर्वक ही होगा।

एतदर्थ हमें अपने जीवन में जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों का अध्ययन और सतत अभ्यास करना अत्यन्त आवश्यक है, उनकी श्रद्धा से हमारे जीवन में यह समाधि की दशा प्राप्त हो सकेगी एवं राग-द्वेष से मुक्त होकर निष्कषाय अवस्था को प्राप्त कर सकेंगे।

जगत में जितने भी जीव जन्म लेते हैं, वे सभी मरते हैं। इस तरह प्रतिपल असंख्य अनंत जीवों की मृत्यु होती रहती हैं; पर सभी जीवों की मृत्यु को महोत्सव की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। जिन्होंने अपना जीवन समाधिपूर्वक जिया हो, मरण भी उन्हीं जीवों का समाधिपूर्वक होता है।

वस्तुतः आधि[१]-व्याधि[२] व उपाधि[३] से रहित आत्मा के निर्मल परिणामों का नाम ही तो समाधि[४] हैं।

समता भाव या निष्कषाय भाव का नाम ही तो समाधि है? इससे मरण का क्या संबंध?''

आगम के आधार पर की गई समाधि की इस चर्चा को सुनकर जहाँ विवेकी एवं सदासुखी ने संतोष प्रगट किया, वहीं साथ में उनके मन में और भी अनेक प्रश्न खड़े हो गये। पर समय काफी हो गया था और चर्चा भी गंभीर थी, अतः 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' की नीति के अनुसार आवश्यकता से अधिक चर्चा करना मैंने ठीक नहीं समझा।

'बात कितनी भी बढ़िया क्यों न हो, पर एक सीमा तक ही उसका लाभ मिलता है। सीमा का उल्लंघन होते ही अमृत तुल्य षट्रस व्यंजन भी विषरूप परिणत होने लगते हैं'' - यह सोचकर बातचीत उस समय बंद कर दी गई।

●

समाधि-साधना और सिद्धि

सन्यास और समाधि है जीना सिखाने की कला।
बोधि-समाधि साधना शिवपंथ पाने की कला।।
सल्लेखना कमजोर करती काय और कषाय को।
निर्भीक और निःशंक कर उत्सव बनाती मृत्यु को।।

- पण्डित रतनचन्द भारिल्ल
ऐसे क्या पाप किए - पृष्ठ-८८

१. मानसिक चिन्ता २. शारीरिक रोग ३. पर के कर्तव्य का भार
४. आधि-व्याधि-उपाधि से रहित आत्मा का निर्मल परिणाम।

९

विषम परिस्थितियों में जीने वाले सामान्य वृद्धजनों की भाँति सदासुखी और विवेकी भी अब अपने जीवन से निराश हो चुके थे। अब वे अपने बुढ़ापे के दिनों को गिन-गिन कर काट रहे थे। मानों अब तो उन्हें अपने मरने की ही प्रतीक्षा थी। उनका एकमात्र अन्तिम कार्य 'मरण' ही शेष रह गया था, जिसे वे येन-केन-प्रकारेण - जिस तरह भी संभव हो, सुधार लेना चाहते थे।

उन्होंने सुन रखा था कि जिनका 'मरण' सुधर जाता है, वे ही परभव में अगले-जन्म में सुखद संयोगों में पहुँचते हैं, उनको ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है। और जिनका मरण बिगड़ जाता है, वे नरक-निगोद आदि गतियों में जाकर अनन्तकाल तक असीम दुःख भोगते हैं।

अतः वे कहा करते थे कि जीवन तो जैसे जिया, जी लिया। अब उसका रोना रोने से क्या प्रयोजन? अब तो बार-बार यही विचार आता है कि कम से कम मरण तो न बिगड़ जावे।

उन बेचारों को क्या पता था कि - ''जिसने अपना जीवन रो-रोकर जिया हो, जिनको जीवन भर संक्लेश ही संक्लेश और अशान्ति रही हो, जिनका जीवन केवल आकुलता में ही बीता हो, जिसने जीवन में सुख-शान्ति कभी देखी ही न हो, निराकुलता का अनुभव किया ही न हो; इस कारण जिनके जीवन भर संक्लेश परिणाम रहे हो, आर्तध्यान ही हुआ हो; उनका 'मरण' कभी नहीं सुधर सकता; क्योंकि जैसी मति वैसी गति।

आगम के अनुसार जिसका आयुबंध जिस प्रकार के संक्लेश या विशुद्ध परिणामों में हो जाता है, उसका मरण भी उसी प्रकार के संक्लेश

या विशुद्ध परिणामों में होता है। अतः यहाँ यह कहा जायेगा कि जैसी गति वैसी मति।

जब तक आयुबंध नहीं हुआ तब तक 'मति अनुसार गति' बंधती है, आयु बंध होने पर गति के अनुसार मति होती है।

अतः यदि कुगति में जाना पसंद न हो तो मति को व्यवस्थित करना आवश्यक है।

जब मैंने उन्हें इस बात से अवगत कराया तो वे घबराये हुए बोले – ''भाईजी! हमारा तो पूरा जीवन ही संक्लेश परिणामों में बीता है, अब हमारा क्या होगा? हमारा कल्याण कैसे होगा?

मैंने कहा – ''आप घबरायें नहीं। आप लोगों को जो संन्यास और समाधि की भावना हुई, उससे ऐसा लगता है कि अभी आपको अशुभ आयु व खोटी गति का बंध नहीं हुआ है। जिसको अशुभ आयु और खोटी गति का बन्ध हो जाता है, उसकी मति (बुद्धि) भी गति के अनुसार कुमति ही होती है। कहा भी है –

'तादृशी जायते बुद्धि व्यवसाययोपि तादृशः।
सहायः स्तादृशः संति, यादृशी भवितव्यता।।

बुद्धि, व्यवसाय और सहायक आदि सभी कारण-कलाप एक होनहार का ही अनुसरण करते हैं। अर्थात् जैसी होनहार होती हैं, तदनुसार ही बुद्धि-विचार उत्पन्न होते हैं। व्यवसाय-उद्यम भी उसी प्रकार होने लगता है, सहायक निमित्तकारण भी सहजरूप से वैसे ही मिल जाते हैं।

अतः स्पष्ट है कि आप लोगों की होनहार भली है, आप निश्चित ही भव्य हैं, अन्यथा आप लोगों के ऐसे विशुद्ध परिणाम होते ही नहीं। आप लोगों के वर्तमान के विशुद्ध परिणामों से मुझे तो आपका भविष्य उज्ज्वल ही प्रतीत होता है।

पद्मनन्दि पंचविंशतिका में आचार्य पद्मनन्दि ने स्पष्ट कहा है –

''तत्प्रति प्रीति चित्तेन, येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं सः भवेत् भव्यो भावी निर्वाण भाजिनम्।।२.२।।

जिसने प्रीति चित्त से भगवान आत्मा की बात भी सुनी है, वह निश्चित ही भव्य है और निकट भविष्य में ही वह मोक्ष प्राप्त करेगा।

अतः आप लोग मरण सुधारने की चिन्ता छोड़कर अपने शेष जीवन को सार्थक करने के लिए अपने समय और शक्ति का सदुपयोग करें। अपने उपयोग का लौकिक कार्यों के विकल्पों में और विकथाओं में दुरुपयोग न करें। अपने अमूल्य समय का एक क्षण भी विषय-कषाय में बर्बाद न करें।

विवेकी और सदासुखी मेरी बातें सुनकर उत्साहित तो हुए, पर उन्होंने सुन रखा था कि आयुकर्म का बंध तो वर्तमान आयु के त्रिभाग में हो जाता है अतः उनका मानना था कि – हमारी आयु के त्रिभाग तो कभी के निकल चुके होंगे; क्योंकि हम तो बासठ-बासठ बसंत देख चुके हैं।''

वस्तुतः उन्होंने आयु के त्रिभाग के नियम को तो पूरी तरह समझा ही नहीं था, निमित्त-नैमित्तिक संबंध का भी उन्हें यथार्थ ज्ञान नहीं था। अतः मैंने उन्हें वर्तमान आयुकर्म के त्रिभागों में होने वाले आगामी आयुकर्म के बंध की प्रक्रिया समझाते हुए बताया कि – ''आगामी (बध्यमान्) आयुकर्म का बंध, जो वर्तमान (भुज्यमान) आयु के त्रिभाग में होता है, उस त्रिभाग का समय जीवन में अधिकतम आठ बार आता है। फिर भी यदि आयुकर्म का बंध न हो तो जीवन के अन्त समय में अर्थात् मरण के अन्तर्मुहूर्त पहले तक भी होता है।

विवेकी ने कहा, ''बात कुछ कठिन हो गई, कुछ समझ में नहीं आया। आयुकर्म के त्रिभाग से आपका क्या तात्पर्य है? कोई उदाहरण देकर समझाइए न?''

मैंने कहा – ''हाँ सुनो! मान लो आपकी वर्तमान (भुज्यमान) आयु इक्यासी वर्ष है तो इक्यासी में तीन का भाग देकर उसमें से एक (तीसरा) भाग घटाने पर अर्थात् दो-तिहाई उम्र बीतने पर इक्यासी वर्ष का प्रथम

त्रिभाग चौवन वर्ष की उम्र में आयेगा, तब आगामी (वध्यमान) आयु का बंध होगा। यदि उसमें आगामी (वध्यमान) आयु का बंध नहीं हुआ तो शेष बचे वर्तमान आयु के सत्ताईस वर्षों का दूसरा त्रिभाग बहत्तर वर्ष की उम्र में आयेगा, उसमें आगामी आयुकर्म का बंध होगा। तब भी न हुआ तो वर्तमान आयु के नौ वर्षों का तीसरा त्रिभाग अठहत्तर वर्ष की उम्र में आयेगा, जिसमें आगामी आयुकर्म का बंध होगा।

इसके बाद चौथा त्रिभाग अस्सी वर्ष में, पाँचवाँ त्रिभाग अस्सी वर्ष आठ माह में छठवाँ त्रिभाग अस्सी वर्ष दस माह बीस दिन में, सातवाँ त्रिभाग अस्सी वर्ष ग्यारह माह सोलह दिन व सोलह घंटे में, और आठवाँ त्रिभाग अस्सी वर्ष ग्यारह माह पच्चीस दिन बारह घंटे व चालीस मिनट में आयेगा जिसमें आगामी आयु का बंध होगा।

इस प्रकार बध्यमान आयुबंध के आठ अवसर आते हैं। यदि इन आठों बार भी आगामी आयुकर्म का बंध नहीं हुआ तो आवली का असंख्यातवाँ भाग भुज्यमान आयु का शेष रहने पर तो आगामी आयु का बंध अवश्य होता ही है।

संभवतःअभी आप बासठ-तिरेसठ वर्ष से अधिक नहीं होंगे। इस दृष्टि से विचार करें तो अभी आपकी आयु के त्रिभाग का केवल एक अवसर ही ऐसा निकला है, जिसमें आयुबंध की संभावना थी, सात अवसर फिर भी शेष हैं। अतः अभी आपको सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा आत्मानुभूति प्राप्त करने का सुअवसर है, निराश होने जैसी कोई बात नहीं है; पर इतना अवश्य समझ लीजिए कि अब 'शुभस्य शीघ्र' की उक्ति के अनुसार शुभ काम में देर नहीं होनी चाहिए।

ध्यान रहे, आजकल निर्व्यसनी, उच्चवर्गीय स्वस्थ शाकाहारी मनुष्यों की औसत आयु सत्तर-पचहत्तर से अस्सी-पचासी वर्ष तो होती ही है, जिसका प्रथम त्रिभाग लगभग पचास से पचपन वर्ष की उम्र में आता है। दूसरा बहत्तर से पचहत्तर वर्ष की उम्र में, इसके बाद तो लगभग अठहत्तर से अस्सी वर्ष की उम्र में आगामी आयु का बंध हो सकता है।

कदाचित् किसी का आयु बंध हो भी गया हो तो भी निराश होकर बैठने के बजाय यदि तत्त्वाभ्यास द्वारा परिणाम विशुद्ध रखा जाय तो आयुकर्म की स्थिति में उत्कर्षण-अपकर्षण तो हो ही सकता है तत्त्वाभ्यास निरर्थक नहीं जाता।

अतः आपको अब तक की हुई भूल या लापरवाही से घबराने की बात तो बिल्कुल ही नहीं है, पर दुनियादारी के झमेलों में अब एक मिनिट भी खराब करना आपके हित में नहीं है।''

मेरी बात से पूर्ण सहमत होते हुए सदासुखी ने कहा - ''हाँ, आप बिल्कुल ठीक कह रहे हैं, मैंने भी एक बार एक उक्ति सुनी थी। किसी ने कहा था कि 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' अच्छे कामों में विघ्नों की अधिक संभावना रहती है। ऐसे विघ्न-संतोषी लोगों की भी दुनिया में कमी नहीं है, जिन्हें दूसरों के अच्छे कामों में विघ्न डालने में ही सुख मिलता है। अतः हम आपके निर्देशों का पूरी तरह पालन करने का प्रयत्न करेंगे। पर यह तो बताइए कि इसके लिए हमें सर्वप्रथम क्या करना चाहिए?''

उन्हें मार्गदर्शन देते हुए मैंने कहा - ''जिनके जीवन में मानसिक शान्ति रहेगी, जिनका जीवन विषय-कषायों से संक्लेशित नहीं होगा, जिनके जीवन में विशुद्ध परिणाम रहेंगे, उन्हें अशुभ गतियों में जाने की कारणभूत नरक-तिर्यंच आयु का बंध ही नहीं होगा। ऐसी स्थिति में उनका कु-मरण कैसे हो सकता है? वे जो जब भी देह छोड़ेंगे समता और समाधिपूर्वक ही छोड़ेंगे।

पर ध्यान रहे, जिनका जीवन सुख-शान्ति एवं निराकुलता में बीतता है, उन्हीं का मरण समाधिपूर्वक होता है। अतः हमें मरण सुधारने के बजाय जीवन को सुधारने का ही प्रयत्न करना होगा।''

विवेकी ने कहा - ''यह तो ठीक है, पर मानसिक शान्ति कैसे रहेगी? उसका क्या उपाय है? हमारा जीवन विषय-कषायों से कैसे बचे? हमारे परिणाम विशुद्ध कैसे रहें? इन सबकी विधि भी तो बताइए।

ऐसे उपदेश तो हमने बहुत बार सुने कि कषाय मत करो, शान्ति रखो, विषयों से बचो आदि; पर उनसे कुछ भी काम नहीं बना, इन उपदेशों से कषायें किंचित् भी कम नहीं हुईं। जब तक हमारे मनोविकारों को जन्म देने वाली सांसारिक समस्याओं का समुचित समाधान नहीं होता, तब तक इन क्रोधादि मनोविकारों का अभाव कैसे हो सकेगा? अतः जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में हमें कोई ऐसा मार्गदर्शन दीजिए – ऐसा उपाय बताइए कि हमें सर्वप्रथम क्या करना चाहिए; ताकि हम अपने जीवन में उन उपदेशों को सार्थक कर सकें।''

मैंने उन्हें जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धांत वस्तुस्वातंत्र्य और कर्ता-कर्म के स्वरूप के माध्यम से मनोविकारों की उत्पत्ति न होने के उपाय समझाते हुए बताया कि – ''तीन लोक में जितने भी पदार्थ हैं, वे सब अपने-अपने स्वभाव से स्वतंत्र रूप से मिलते-बिछुड़ते हैं, स्वयं ही आते-जाते हैं। उनमें परस्पर कर्ता-कर्म संबंध नहीं है, मात्र निमित्त-नैमित्तिक संबंध हैं। कहा भी है –

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम?

जब संयोग के मिलाने में या अलग करने में, किसी का भला-बुरा होने में, सुख-दुःख पाने में किसी अन्य का कुछ हस्तक्षेप ही नहीं है तो कोई किसी पर बिना कारण क्रोधादि क्यों करें? खेद-खिन्न क्यों हो? हर्ष-विषाद क्यों करें? संक्लेशित भी क्यों हों?

वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धांत की श्रद्धा वाले व्यक्ति तो केवल ज्ञाता-दृष्टा रहकर सब परिस्थितियों में साम्यभाव ही धारण करते हैं, उन्हें संयोगों में सुखबुद्धि नहीं रहती; क्योंकि वे जानते हैं कि संयोगों में सुख है ही नहीं।

पुण्य-पाप के सिद्धांतानुसार भी कोई किसी को सुखी-दुःखी नहीं कर सकता। अतः पुण्य-पाप का यथार्थ् श्रद्धान होने से भी पर के प्रति राग-द्वेष की परिणति कम हो जाती है।

आचार्य अमितगति ने सामयिक पाठ में स्पष्ट रूप से कहा है –

स्वयं किये जो कर्म शुभाशुभ, फल निश्चय ही वे देते।
करें आप फल देय अन्य तो, स्वयं किये निष्फल होते।।
अपने कर्म सिवाय जीव को, कोई न फल देता कुछ भी।
पर देता है यह विचार तज, थिर हो छोड़ प्रमाद बुद्धि।।''

जब मैंने उन्हें संक्षेप में यह समझाया तो वे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने भारी संतोष व्यक्त किया। मानों उन्हें कोई निधि मिल गई हो अथवा उनके हरे-भरे घावों पर शीतलता प्रदान करने वाली मलहम लगा दी गई हो।

●

महादुर्लभ मनुष्य भव खोने में कुशलता कैसी?

जोई दिन कटै, सोई आयु में अवश्य घटै;
बूँद-बूँद बीते, जैसे अंजुलि कौ जल है।
देह नित छीन होत, नैन तेजहीन होत;
जीवन मलीन होत, छीन होत बल है।
आवै जरा नेरी, तकै अंतक अहेरी;
आबै परभौ नजीक, जात नरभौ निफल है।
मिलकै मिलापी जन, पूछत कुशल मेरी;
ऐसी दशा मांहि, मित्र काहे की कुशल है।

भूधर शतक : कविवर भूधरदासजी

१०

मैंने कहीं पढ़ा था कि देवगति में सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्रों का तेतीस-तेतीस सागरों जैसा लम्बा समय तत्वचर्चा में मात्र तेतीस वर्ष की अल्प अवधि की भाँति बीत जाता है। उन्हें पता ही नहीं लगता, इतना लम्बा जीवन कब/कैसे बीत गया?

पर मुझे यह बात जँचती नहीं थी कि कहाँ तो तेत्तीस सागरों की कल्पनातीत-अमाप अवधि और कहाँ तेत्तीस वर्षों की नगण्य अल्प अवधि। इतना लंबा समय इतनी अल्प अवधि की भाँति कैसे निकल जाता होगा?

परन्तु जब मेरे उस पहाड़ी पर्यटन केन्द्र पर धार्मिक चर्चा में दो महीने दो दिन की भाँति निकल गये तब मुझे विश्वास हो गया कि तत्त्वचर्चा व सुखद वातावरण में ऐसा प्रतीत होना कोई असंभव बात नहीं है।

-- -- --

इस दो महीने के समय में ही घर से बेटे-बहुओं और पोते-पोतियों का अनेक बार बुलावा आ चुका था और हमें भी कुछ-कुछ उनकी याद सताने लगी थी। एक दिन मन में विचार आया कि - ''जिज्ञासुओं की जिज्ञासा तो उस अग्नि के समान है, जो घी की आहूतियों से कभी तृप्त नहीं होती। आखिर कभी न कभी तो घर जाना ही होगा। जब जायेंगे, ये लोग तो तभी दुःखी होंगे और इनका अधिक से अधिक दिनों तक रोकने का आग्रह कभी कम नहीं होगा।

इसमें इन बेचारों का दोष भी क्या है, राग का तो स्वरूप ही ऐसा है। अतः एक न एक दिन तो थोड़ा बहुत कठोर रुख अपनाना ही पड़ेगा। अतः क्यों न कल ही कह दिया जाय कि - ''अब हमें शीघ्र ही घर पहुँचना है। सभी लोग बहुत याद कर रहे हैं। बुलावे के संदेशों पर संदेश

आ रहे हैं। और हम भी कौन से वीतरागी हो गये हैं? हमें भी उनकी याद आने लगी हैं। अतः हमने एक-दो दिन में ही घर जाने का निश्चय कर लिया है।''

मेरे द्वारा यह विचार प्रगट करने पर उन लोगों में वैसी ही प्रतिक्रिया हुई, जैसी मुझे संभावना थी। कोई भी व्यक्ति मुझे वापिस घर जाने देने के लिए मन से राजी नहीं था। इधर मेरे हृदय में भी उनके प्रति अटूट धर्म स्नेह हो गया था। अतः मैं भी उनका साथ छोड़ने की कल्पना मात्र से भावुक हो उठा था।

इस मोह की महिमा ही कुछ ऐसी विचित्र है कि दोनों तरफ से ही मार करता है। इसीकारण तो साधु-संत चातुर्मास के अतिरिक्त एक स्थान पर अधिक काल तक नहीं रुकते। अन्यथा यह मोह उन्हें भी अपने मोहजाल में फाँसे बिना नहीं मानता।

वस्तुतः बहता पानी व भ्रमता योगी ही पवित्र रहता है - चौमासे में एक साथ चार माह तक एक ही स्थान पर रुकना तो साधु-संतों की बाध्यता है, मजबूरी है; पर वे उन चौमासे के दिनों में भी इस मोह-माया से पूर्ण सावधान रहते हैं, गृहस्थों के संपर्क में अधिक नहीं रहते। उनसे दूर ही रहते हैं और रहना भी चाहिए; क्योंकि गृहस्थों के अधिक सान्निध्य से उन्हें दोष लगता है, उनमें मोह उत्पन्न होने की संभावना भी रहती है।

जब निर्मोही साधु-संतों के जीवन में यह संभावना हो सकती है तो हम-तुम जैसे साधारण श्रावकों की तो बात ही क्या है? हम-तुम तो वैसे भी मोह-माया में आकंठ निमग्न हैं।

-- -- --

उस पहाड़ी पर्यटन केन्द्र पर दो माह तक रहने से और समय-समय पर सदासुखी व विवेकी के घर आते-जाते रहने से उनके पूरे परिवार के निकट संपर्क में आने के कारण उन सबसे मेरा घनिष्ठ परिचय तो हुआ ही; मेरी विचारधारा का एवं गृहस्थोचित लोक-व्यवहार का भी उनके परिवार

पर अच्छा प्रभाव पड़ा। परिणाम यह हुआ कि उनके परिवार में - पिता-पुत्रों व सास-बहुओं में अब तक जो मन-मुटाव रहा करता था, वह भी मिट गया और उनमें परस्पर प्रेम और धर्म के प्रति आस्था भी उत्पन्न हो गई।

उनके जीवन में अनायास हुए इस असंभावित परिवर्तन से वे तो प्रसन्न और प्रभावित थे ही, उनके अड़ौसी-पड़ौसी एवं उनसे संबंधित अन्य अनेक परिवार भी मेरी चर्चा व व्यवहार से किसी न किसी रूप में प्रभावित थे। अतः सभी की इच्छा रहती थी कि मैं वहाँ अधिकतम रूकूँ।

पर, मेरी भी अपनी कुछ निजी परिस्थितियाँ थीं, जिनके कारण मेरा घर पर लौटना आवश्यक था। वैसे भी आखिर घर से बाहर रहने की कुछ न कुछ मर्यादायें तो होती ही हैं। मैं कोई साधु-संत तो था नहीं, फिर साधु-संत भी तो एक ही स्थान पर अधिक काल तक नहीं ठहरते।

इसी बीच मुझे बुलाने के घर से मेरे पास अनेक संदेश भी आ चुके थे, अतः मेरा घर पहुँचना आवश्यक हो गया था।

सपत्नीक मेरे वापिस घर लौट आने पर मेरे प्रति उनका स्नेह और अधिक बढ़ गया था। अतः पत्राचार से परोक्ष संपर्क तो उन्होंने रखा ही, कुछ ही दिनों में वे दोनों प्रबुद्ध परिवार अपने पड़ौसियों सहित धर्मलाभ की भावना से कुछ दिन के लिए मेरे पास आ गये।

उन्होंने आते ही अपनी लंबी यात्रा के बीच हुई व्यथा-कथा किए बिना और आव-भगत की अपेक्षा किए बिना मात्र यह निवेदन किया कि ''भाई जी! हम लोग आपके सान्निध्य का अधिकतम लाभ लेने आये हैं, अतः आप ऐसा कार्यक्रम बनायें, जिससे आपको विशेष कष्ट हुए बिना हमें आपका पूरा-पूरा लाभ मिल सके और हम जीवन जीने की कला में पूर्ण पारंगत हो सकें। हम अपने शेष जीवन को सार्थक कर लेना चाहते हैं।''

मैंने मार्गदर्शन करते हुए कहा - ''आपको सूर्योदय के पूर्व ब्रह्ममुहूर्त में उठकर सर्वप्रथम पंचपरमेष्ठी के स्वरूप का स्मरण करना चाहिए। तत्पश्चात् 'मैं कौन हूँ? मेरा स्वरूप क्या है? मेरे लिए क्या हेय है और क्या उपादेय?' इसका विचार करना चाहिए।

देखो न! श्रीमद् राजचन्द्र इस विषय में क्या कहते हैं? वे अतीन्द्रिय आनंद के रसपान की विधि बताते हुए कहते हैं -

'मैं कौन हूँ, आया कहाँ से, और मेरा रूप क्या?
संबंध सुखमय कौन है, स्वीकृत करूँ परिहार क्या?
इसका विचार विवेक पूर्वक शान्त होकर कीजिए।
तो सर्व आत्मिक ज्ञान अरु सिद्धांत का रस पीजिए।'

अनादिकाल से अज्ञानी जीव की देह में व रागादि भावों में ही एकत्वबुद्धि है, वह आत्मा के शुद्ध स्वरूप को नहीं जान पाया। इस कारण उसे आत्मानुभूति नहीं हुई, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई।

देह की उत्पत्ति में वह अपनी उत्पत्ति मानता है, देह के विनाश में अपना विनाश मानता है। इसीप्रकार देह यदि गोरी-काली, रोगी-निरोगी, पतली-मोटी हो तो वह स्वयं को ही उत्पत्ति-विनाशरूप, गोरा-काला, रोगी-निरोगी, मोटा-दुबला मान लेता है। इसी तरह विकारी पर्याय में एकत्व होने से स्वयं को ही क्रोधी, मानी, मायावी व लोभी मान लेता है। अतः उससे कहते हैं कि भाई! तू ऐसा विचार कर कि -

''मैं तो ज्ञानानन्द स्वभावी अपने आप में स्वयं परिपूर्ण वस्तु हूँ। मुझे पूर्णता प्राप्त करने के लिए एवं सुखी होने के लिए किसी भी पर वस्तु के सहयोग की किंचित् भी आवश्यकता नहीं है।

काला-गोरा आदि तो पुद्गल के परिणाम हैं। जब मुझमें जड़ पुद्गल जैसे रूप, रस, गंध, स्पर्शादि हैं ही नहीं; तो मेरे काले-गोरे होने की तो बात ही कहाँ से आई?

'मैं' तो अरस, अरूप, अगंध एवं अस्पर्श स्वरूपी चैतन्य तत्त्व हूँ। मेरा पर पदार्थों से कुछ भी संबंध नहीं है। मैं तो शुद्ध-बुद्ध निरंजन-निराकार एक परम पदार्थ हूँ तथा पर की परिणति से सदा अप्रभावी हूँ।

मैं ज्ञान का घनपिण्ड, आनन्द का रसकंद, चैतन्य सूर्य हूँ। मैं स्वयं ही ध्येय हूँ, श्रद्धेय हूँ, ज्ञान हूँ एवं ज्ञायकस्वभावी भगवान हूँ।''

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने भी श्रोता के स्वरूप का निरूपण करते हुए यही कहा है कि - ''सर्वप्रथम विचार करो कि - मैं कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है? यह चरित्र कैसे बन रहा है? ये मेरे भाव होते हैं, इनका क्या फल लगेगा। जीव दुःखी हो रहा है सो दुःख दूर होने का क्या उपाय है...?''

अतः प्रतिदिन प्रातःकाल बिस्तर छोड़ते ही हाथ-पाँव और मुँह धोकर, आलस त्याग कर, पूर्ण सचेत होकर शान्त व एकान्त स्थान में बैठकर णमोकार मंत्र के माध्यम से पंचपरमेष्ठी के स्वरूप का विचार किया करो। उसमें विचार करो कि - 'हे प्रभो! मुझमें और आपमें कोई अन्तर नहीं है, जैसे अनन्त ज्ञान-दर्शन के घनपिण्ड आप हैं, वैसा ही मैं हूँ, स्वभाव से जैसा मैं हूँ, वैसे ही आप हैं। एक समय की पर्याय में आप में और मुझमें मात्र इतना अन्तर है कि आप वीतरागी हो गये हैं और मैं अभी रागी-द्वेषी हूँ। इस अन्तर को मैं अपने सम्यक् पुरुषार्थ से जब चाहूँ तब बदल सकता हूँ। कहा भी है -

'मम स्वरूप है सिद्ध समान। अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान
किन्तु आश वश खोया ज्ञान। बना भिखारी निपट अजान
हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता-दृष्टा आतमराम[१]

तत्पश्चात् भेदज्ञान की विधि से अपने आत्मा के स्वरूप का विचार किया करो।

१. आत्मकीर्तन : सहजानंदवर्णी

'मैं रागरंग से भिन्न, भेद से भी मैं भिन्न निराला हूँ।
मैं हूँ अखण्ड चैतन्य पिण्ड, निज रस में रमने वाला हूँ।।[१]

-- -- --

'अनुज-अग्रज सुत-सुता प्रिय सुहृद जन सब भिन्न हैं;
ये शुभ-अशुभ संयोगजा चिद्वृत्तियाँ भी अन्य हैं।
स्वोन्मुख चिद्वृत्तियाँ भी आत्मा से अन्य हैं;
चैतन्यमय ध्रुव आत्मा गुण भेद से भी भिन्न हैं।।[२]

इसप्रकार भेदज्ञान द्वारा ऐसा विचार करो कि - ''मैं राग से, देह से, गुणभेद से व निर्मल पर्यायों से भी सर्वथा भिन्न हूँ। मैं अनुज-अग्रज, पुत्र-पुत्री, मित्रजन से तो भिन्न हूँ ही, शुभ-अशुभ रूप चैतन्य की वृत्तियों से भी अन्य हूँ।''

स्वाध्याय की प्रेरणा देते हुए मैंने आगे कहा - ''संसार, शरीर व भोगों से विरक्ति के लिए बारह भावनाओं के माध्यम से इनकी क्षणभंगुरता एवं असारता का भी विचार करना। जैसा कि यत्र-तत्र कहा गया है। वस्तुस्वरूप की यथार्थ समझ के लिए आध्यात्मिक ग्रंथों का अध्ययन करना भी आवश्यक है।

तभी विशुद्ध परिणाम होंगे और राग-द्वेष कम होंगे, कषायें कृश होंगी और समता व समाधि की प्राप्ति होगी।''

मेरे इस कथन से वे भारी प्रसन्न हुए और उन्होंने उसी समय मुझे आश्वस्त करते हुए मेरे सामने ही इस दिशा में सक्रिय होने का दृढ़ संकल्प किया। उनके इस अलौकिक परिवर्तन से मुझे भारी प्रसन्नता हुई। इसके लिए मैंने तो उन्हें धन्यवाद दिया ही, उनके मुखमण्डल पर भी कृतज्ञता का भाव झलक आया।

●

१. डॉ. भारिल्ल : आत्मगीत
२. डॉ. भारिल्ल : बारहभावना

११

विवेकी और सदासुखी के द्वारा निरन्तर गहन अध्ययन, मनन और चिन्तन करने से दिन प्रतिदिन उनके ज्ञान में वृद्धि एवं प्रतिभा में विकास हो रहा था। अब उन्होंने घर-बाहर की सब चिन्ताएँ छोड़कर अपने जीवन को आत्महित में समर्पित करने का संकल्प कर लिया था।

उनकी इस आत्मोन्नति से मैं बेहद प्रसन्न था। पर संन्यास और समाधि के संबंध में वे अभी भी भ्रमित थे। वस्तुतः वे अभी वस्तुस्वरूप के यथार्थ तक नहीं पहुँच पाये थे।

उन्होंने सुन रखा था कि - ''जिसतरह साल भर में पढ़ाई करने पर भी यदि विद्यार्थी परीक्षा में सफल नहीं होता तो उसका श्रम सार्थक नहीं माना जाता। उसीतरह जिनका मरण समाधिपूर्वक होता है, उनका ही मानव जीवन सार्थक माना जाता है और अब तक की साधना-आराधना सफल समझी जाती है।''

इसकारण वे अपने समाधिमरण के विषय में बहुत सजग थे, समाधि से संबंधित विषयों का अध्ययन-मनन भी बहुत किया करते थे; पर अभी तक वे मृत्यु को महोत्सव के रूप में स्वीकार नहीं कर पा रहे थे। इस संबंध में विवेकी का कहना था - ''जो जीवन भर मृत्यु के भय से भयभीत रहे हों, जिन्हें प्रतिपल मौत का आतंक आतंकित किए रहता हो, मरण की कल्पना मात्र से जिनका दिल दहल जाता हो, हृदय काँप उठता हो, वे मृत्यु जैसी दुःखद दुर्घटना को महोत्सव के रूप में कैसे मना सकते हैं? उनके लिए वह मनहूस घड़ी महोत्सव जैसी सुखद कैसे हो सकती है?

महोत्सव किसी भी प्रकार का क्यों न हो, वह तो हर्ष के माहौल में ही मनाया जाता है, एक सुखद प्रसंग ही माना जाता है। चाहे वह किसी

का जन्मोत्सव हो, विवाहोत्सव हो, अथवा धार्मिक, सामाजिक व राष्ट्रीय उत्सव हो - सभी महोत्सव प्रसन्नता के प्रतीक ही होते हैं।

अपनी बात के स्पष्टीकरण में उसका कहना था कि - ''यदि मरने वाला व्यक्ति बहुत बड़ा आदमी हो तो उसकी शवयात्रा बहुत विशाल हो सकती है, उसकी चिंता चंदन की बनाई जा सकती है, उसका अन्तिम संस्कार राष्ट्रीय सम्मान के साथ किया जा सकता है, पर उस दुःखद प्रसंग को महोत्सव नहीं कहा जा सकता।

जिस कुटुम्ब-परिवार, समाज या राष्ट्र की ऐसी अपूरणीय क्षति हुई हो, जिसकी पूर्ति संभव ही नहीं हो, भला वह उस अपूरणीय क्षति पर प्रसन्नता सूचक महोत्सव कैसे मना सकता है?

जिन्हें दिवंगत व्यक्ति के प्रति असीम स्नेह है, अटूट प्रेम है, हार्दिक अनुराग है, उसकी चिरविदाई में वे प्रसन्न कैसे हो सकते हैं? मोही व्यक्तियों के लिए तो मृत्यु इष्ट वियोग का कारण होने से दुःखद ही होती है। भला वे इस अन्तहीन वियोग की निमित्तभूत दुःखद मृत्यु को महोत्सव का रूप कैसे दे सकते हैं?''

कल्पना कीजिए - ''कदाचित् किसी ने किसी की मृत्यु पर हर्ष सूचक वाद्यध्वनि भी बजवा दी तो लोग उसके बारे में क्या सोचेंगे?

फिर भी हमारे आचार्यों या मनीषियों ने मृत्यु को महोत्सव की संज्ञा देकर ऐसी असंभव कल्पना क्यों कर डाली?''

विवेकी की यह ज्वलंत समस्या थी, जिसका समाधान उसे नहीं मिल पा रहा था; क्योंकि भौतिक जगत और हम-तुम सब प्रतिदिन प्रत्यक्ष देखते भी यही हैं कि मरने वाले अपने सभी प्रियजनों को रोता-बिलखता छोड़कर सदा-सदा के लिए चले जाते हैं; फिर कभी नहीं मिलते। ऐसी स्थिति में कोई भी मृत्यु को महोत्सव कैसे मान सकता है?

पर इसमें विवेकी की मूल भूल यह थी कि वह इस लोकोत्तर या आध्यात्मिक समस्या का समाधान भी इस भौतिक या लौकिक जगत में

ही खोज रहा था। इस कारण उसे इसका समुचित समाधान कहाँ से मिलता?

मेरे सामने भी उसने यह समस्या रखी थी; पर उस दिन तो उपयुक्त अवसर न होने से मैं उसका समाधान नहीं कर पाया था, किन्तु एक दिन जब मैं सप्तभयों से भयभीत व्यक्तियों को सम्यग्दृष्टि के समान निर्भय रहने की प्रेरणा दे रहा था, निर्भीक होकर 'जीने की कला' पर प्रकाश डाल रहा था, तब विवेकी को सामने बैठा देख मुझे उसका वह प्रश्न स्मरण हो आया, जिसमें उसने मृत्यु को महोत्सव मनाने में शंका प्रगट की थी।

उस प्रश्न के संदर्भ में मैंने उसे संबोधित करते हुए कहा – ''देखो, भाई विवेकी! यह तो मैं भी मानता हूँ कि मनीषियों द्वारा मृत्यु को महोत्सव कह देने मात्र से मृत्युभय से भयभीत यह जगत मृत्यु को महोत्सव मानने वाला नहीं है और जब तक अन्तःकरण से बात स्वीकृत न हो तब तक किसी भी दबाव में आकर तात्त्विक बात को भी शिरोधार्य कर लेने से कोई लाभ नहीं होता।

अतः इसके सही समाधान के लिए मैं आगम, युक्ति एवं स्वानुभव से यह बात कह रहा हूँ। आपको यहाँ इतना तो निश्चित ही मानकर चलना चाहिए कि मृत्यु जैसे गंभीर प्रसंग को होली-दिवाली जैसे हर्षोल्लास के साथ मनाये जाने वाले उत्सव की भाँति तो नहीं मनाया जा सकता। इस अर्थ में आगम में मृत्यु को महोत्सव कहा भी नहीं है।

मृत्युमहोत्सव की तुलना हम उस बेटी की विदाई से कर सकते हैं, जो योग्य वर के साथ बड़े घर में ब्याही गई हो।''

उदाहरण को स्पष्ट करने के लिए मैंने विवेकी से यह पूछा – ''बताओ विवेकी! योग्य वर के साथ बड़े घर में ब्याही गई बेटी की विदाई सुखदायी है या दुःखदायी?''

विवेकी मेरे इस प्रश्न को सुनकर कुछ कहे बिना मेरी ओर आँखें फाड़-फाड़कर देखता रहा।

थोड़ी देर तक कुछ उत्तर न मिलने पर मैंने ही बात को आगे बढ़ाते हुए कहा – ''यदि वह विदाई दुःखद हो तो कोई विवाह ही क्यों करें?''

यह सुनते ही विवेकी ने उत्साहित होकर कहा – ''हाँ, यह बात तो है। बिना कारण कोई दुःख में क्यों पड़ेगा? यह स्थिति तो बेटी और माँ-बाप सबके लिए सुखद हैं। भला संपन्न घर में एवं योग्य वर के साथ बेटी का विवाह हो जाना कोई सहज बात तो नहीं है। ऐसा सौभाग्य सबको कहाँ मिलता है, वह भी इस जमाने में जबकि सभी के सिर पर दहेज का भूत सवार हो?''

उसके इस उत्तर को सुनकर मैंने कहा – ''तुम्हारे मतानुसार ही यदि बिना दहेज दिए बड़े घर में ब्याही गई बेटी की विदाई सुखदायी है तो फिर बेटी एवं उसके माता-पिता विदाई के समय रोते क्यों हैं?

माता-पिता तो बेटी का विवाह उसके सुख और अपने संतोष के लिए ही करते हैं और उसे ससुराल में सुखी देख खुश भी होते हैं तथा सुख का अनुभव भी करते हैं। भले ही बेटी की विदाई के समय अपने से उसकी जुदाई होने के कारण मोहवश रोना आ जाता हो; पर उनका वह मोहजनित तात्कालिक दुःख वस्तुतः दुःखरूप नहीं है। इस कारण उनके उन आँसुओं पर कोई आँसू नहीं बहाता।

वस्तुतः वह विदाई दुःखदायी नहीं, सुखदायी विदाई ही है। ऐसी विदाई में ऐसा ही होता है, रोना-हँसना एक साथ होता है, ऊपर से रोते दिखाई देते हैं; पर रोते नहीं हैं। हाँ, उनका वह रोना नकली भी नहीं है, इस विदाई का तो स्वरूप ही कुछ ऐसा है, इसे ही सुखदायी विदाई कहते हैं।

हाँ, यह बात अलग है कि बेटी और माँ-बाप के पूर्व पापोदय से दुःखद संयोग मिल जावे तो क्या माता-पिता और क्या बेटी, सभी विदाई के समय अन्तःकरण से दुःखी होते हैं और बिलख-बिलख कर रोते भी हैं, वह विदाई वस्तुतः दुःखद विदाई ही हैं।

ठीक इसीप्रकार चिरविदाई (मृत्यु) भी दो तरह की होती है - १. सुखदायी, २. दुःखदायी।

यदि व्यक्ति ने जीवन भर सत्कर्म किए हैं, पुण्यार्जन किया है, सदाचारी जीवन जिया है, अपने आत्मा व परमात्मा की पहचान करके उनका आश्रय व आलम्बन लिया है, परमात्मा के बताये पथ पर चलने का पुरुषार्थ किया है तो निश्चित ही उसकी वह चिरविदाई की बेला सुखदायी होगी; क्योंकि उसके सत्कर्मों के फलस्वरूप वर्तमान वृद्ध, रोगी एवं जीर्ण-शीर्ण शरीर के बदले में सुन्दर शरीर, सुगति व नाना प्रकार के सुखद संयोग मिलने वाले हैं।

जिसतरह किसी को पहनने के लिए नया सुन्दर वस्त्र तैयार हो तो पुराना, जीर्ण-शीर्ण, मैला-कुचैला वस्त्र उतार कर फैंकने में उसको कष्ट नहीं होता; उसी तरह जिसने नई पुण्य की कमाई की हो, सत्कर्म किए हों, उसे तो नवीन दिव्य देह ही मिलने वाली है, उसे पुराना शरीर छोड़ने में कैसा कष्ट? ऐसी मृत्यु को ही मृत्यु महोत्सव या सुखदायी विदाई कहते हैं।

ऐसी चिरविदाई (मृत्यु) के समय सगे-संबंधी रागवश बाहर से रोते दिखाई देते हैं पर अन्दर से उन्हें इस बात का संतोष व हर्ष होता है कि दिवंगत आत्मा की सद्गति हुई है। जैसे कि अच्छे घर में ब्याही बेटी को विदा करते समय माँ-बाप रागवश रोते तो हैं, परन्तु अन्दर से उन्हें इस बात का संतोष व हर्ष होता है कि मेरी बेटी सुखद संयोगों में गई है।

इसके विपरीत जिसने जीवनभर दुष्कर्म किए हों, पापाचरण किया हो, दुर्व्यसनों का सेवन किया हो, दूसरों पर राग-द्वेष करके संक्लेश भाव किए हों, जो दिन-रात खाने-कमाने में ही अटका रहा हो, विषय-कषायों के कंटकाकीर्ण वन में ही भूला-भटका रहा हो, जिसने जीवन भर अरण्य रुदन ही किया हो, उसे तो इन कुकर्मों के फल में कुगति ही होनी है, दुःखदायी संयोगों में ही जाना है। उसकी परिणति भी संक्लेशमय हो

जाती है, वह संक्लेश भावों से ही मरता है। उसकी इस चिरविदाई की बेला को दुःखदाई विदाई कहते हैं। ऐसे व्यक्ति की मृत्यु कभी महोत्सव नहीं बन सकती। जैसे कि दुःखद संयोगों में ब्याही गई बेटी की विदाई तो माँ-बाप को जीवन भर के लिए दुःखद ही होती है।

मृत्यु को महोत्सव बनाने वाला मरणोन्मुख व्यक्ति तो जीवनभर के तत्त्वाभ्यास के बल पर मानसिक रूप से अन्दर में तैयार होता है और विदाई देनेवाले व्यक्ति भी बाहर से वैसा ही वैराग्यप्रद वातावरण बनाते हैं, तब कहीं वह मृत्यु महोत्सव बन पाती हैं।

इस वातावरण में परिवार के मोही व्यक्ति भी क्षण भर के लिए वियोगजनित दुःख भूल जाते हैं तथा सभी सुख व संतोष का अनुभव करने लगते हैं।

वस्तुतः मृत्यु के समय मरणासन्न व्यक्ति की मनःस्थिति को मोह-राग-द्वेष आदि मनोविकारों से बचाने, पाँचों इन्द्रियों के विषयों से तथा परद्रव्य पर अटकने-भटकने से भी बचाने तथा आत्मसम्मुख करने के लिए संसार, शरीर व भोगों की असारता को बताने वाला वैराग्यवर्द्धक तथा संयोगों की क्षणभंगुरता दर्शानेवाला और आत्मा के अजर, अमर व अविनाशी स्वरूप का ज्ञान कराने वाला आध्यात्मिक वातावरण बनाना जरूरी है। इसके बिना मृत्यु महोत्सव नहीं बन सकती।

कभी-कभी परिजन-पुरजन मोह व अज्ञानवश अपने प्रियजनों को मरणासन्न देखकर या मरण की संभावना से भी रोने लगते हैं, इससे मृत्युसन्मुख व्यक्ति के परिणामों में संक्लेश होने की संभावना बढ़ जाती है; जबकि उसे समतापूर्वक निष्कषायभाव से, शांतभावों से देह त्यागने में सहयोग करना चाहिए, तभी मृत्यु महोत्सव बन पाती हैं।''

इसी बीच एक मुँहफट-बातूनी श्रोता बोला - ''जब मृत्यु के समय कान में णमोकार मंत्र के सुनने-सुनाने मात्र से मृत्यु महोत्सव बन जाती है तो फिर जीवन भर जिनवाणी के अध्ययन की क्या आवश्यकता है?''

जैसा कि जीवन्धर चरित्र में आई कथा से स्पष्ट है। उस कथा में तो साफ-साफ कहा गया है कि महाराजा सत्यन्धर के पुत्र जीवन्धर कुमार के द्वारा एक मरणासन्न कुत्ते के कान में णमोकार मंत्र सुनाया था, जिसके परिणाम स्वरूप वह कुत्ता स्वर्ग में अनेक ऋद्धियों का धारक महर्द्धिक देव हुआ। इससे बड़ा प्रमाण और क्या चाहिए? क्या पुराणों की बातें गलत हो सकती हैं?

मैंने उसकी जिज्ञासा शांत करते हुए कहा - ''अरे भाई! यह राजमार्ग नहीं हैं। अन्यथा मुनि बनने और आत्म साधना का उपदेश क्यों दिया जाता? कदाचित् कभी अंधे के हाथ बटेर लग जाये तो इसका अर्थ यह तो नहीं कि बटेर पकड़ने के लिए आँख की आवश्यकता ही नहीं है। जिस तरह युद्ध के मैदान में सफलता प्राप्त करने के लिए जीवन भर अस्त्र-शस्त्र कला का अभ्यास जरूरी है, उसी तरह मृत्यु को महोत्सव बनाने के लिए जीवनभर तत्त्वाभ्यास जरूरी है।

तुमने जो जीवन्धर चरित्र (क्षत्रचूड़ामणी) में आई कुत्ते को स्वर्ग प्राप्त होने की कथा के संदर्भ में प्रश्न किया है, वह अवश्य ही विचारणीय है क्योंकि वह भी तो पौराणिक कथा है; परन्तु उस कथन के अभिप्राय को समझने के लिए हमें प्रथमानुयोग के शास्त्रों (पुराणों) की कथन पद्धति एवं उनके व्याख्यान का विधान समझता होगा। एतदर्थ पण्डित टोडरमलजी कृत मोक्षमार्ग प्रकाशक का निम्न कथन द्रष्टव्य हैं, जैसे - ''किसी ने उपवास किया उसका फल तो अल्प था, परन्तु उसे अन्य धर्म परिणति की विशेषता हुई, इसलिए विशेष उच्च पद की प्राप्ति हुई, वहाँ उसको उपवास ही का फल निरूपित करते हैं।

जिस प्रकार किसी ने नमस्कार मंत्र का स्मरण किया व अन्य धर्म साधन किया, उसके कष्ट दूर हुए, अतिशय प्रगट हुए; वहाँ उन्हीं का वैसा फल नहीं हुआ, परन्तु अन्य किसी कर्म के उदय से वैसे कार्य हुए हैं; तथापि उनको उन शीलादि का ही फल निरूपित करते हैं। उसी प्रकार

कोई पापकार्य किया, उसको उसी का तो वैसा फल नहीं हुआ है, परन्तु अन्य कर्म के उदय से नीच गति प्राप्त हुई अथवा कष्टादि हुए, उसे उसी पाप का फल निरूपित करते हैं।''

यदि उपर्युक्त प्रश्न को हम इस संदर्भ में देखें तो उस कुत्ते को न केवल णमोकार मंत्र के शब्द कान में पड़ने से स्वर्ग की प्राप्ति हुई, बल्कि उस समय उसकी कषायें मंद रहीं होगी, परिणति विशुद्ध रही होगी, निश्चित ही वह जीव अपने पूर्वभवों में धर्म संस्कार से युक्त रहा होगा; पर प्रथमानुयोग की शैली के अनुसार 'णमोकार महामंत्र' द्वारा पंच परमेष्ठी के स्मरण की प्रेरणा के प्रयोजन से उसकी स्वर्ग की प्राप्ति को मात्र णमोकार मंत्र का फल निरूपित किया है। जो सर्वथा उचित है, और प्रयोजन की दृष्टि से पूर्णसत्य है, यथार्थ है। जिनवाणी के सभी कथन मतार्थ की मुख्यता से ही होते हैं। अतः उनका अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए, अभिधेयार्थ ग्रहण करना चाहिए, शब्दार्थ नहीं।

यद्यपि लोकदृष्टि में लोकविरुद्ध होने से अन्य उत्सवों की भाँति मृत्यु का महोत्सव खुशियों के रूप में तो नहीं मनाया जा सकता, पर तत्त्वज्ञानियों द्वारा मृत्यु को महोत्सव जैसा महसूस तो किया ही जा सकता है।

जब इस जीव को भेदज्ञान के बल से निज-पर का विवेक जागृत हो जाता है, अपने अमरत्व की श्रद्धा हो जाती है; तब वह तत्त्वाभ्यास से ऐसा अनुभव करने लगता है कि - ''मैं तो इस विनाशीक शरीर से भिन्न अजर-अमर अविनाशी हूँ। मेरी तो कभी मृत्यु होती ही नहीं है। मृत्यु तो केवल एक देह से दूसरी देह में गमन क्रिया का नाम है, जो कि आयुपूर्ण होने पर अवश्यंभावी है। जब आयुकर्म की स्थिति पूर्ण हो जाती है तो न चाहने पर भी जीव को एक देह से दूसरी देह में जाना ही पड़ता है, देह को छोड़ना ही पड़ता है तथा जीर्ण-शीर्ण और असाध्य रोगी होने पर आत्माराधन एवं संयम की साधना में असमर्थ देह को छूटना ही चाहिए, अन्यथा जीर्ण-शीर्ण शरीर को कोई कब तक ढोता रहेगा?''

लोक में जिसतरह व्यक्ति जब पुराना वस्त्र त्यागकर नया वस्त्र धारण करता है तो प्रसन्न ही होता है, उसीतरह लोकोत्तरमार्ग में भी जब समाधिमरण के माध्यम से जीव वृद्ध व रोगी शरीर को त्याग कर नवीन शरीर धारण करता है तो उस समय उसे भी प्रसन्न ही होना चाहिए।

देह में एकत्व-ममत्व रखने वाले मिथ्यादृष्टि-अज्ञानी जीवों के लिए मृत्यु दुःखद हो सकती है; क्योंकि वे पर्यायमूढ़ होने से मृत्यु को सर्वनाश का हेतु मानते हैं, पर उन भेदविज्ञानियों को तो मृत्यु से भयभीत नहीं होना चाहिए, जिन्होंने तत्त्वाभ्यास और वैराग्यजननी बारह भावनाओं के सतत चिन्तन-मनन से संसार, शरीर व भोगों की असारता, क्षणभंगुरता एवं आत्मा की अमरता का भलीभाँति अनुभव कर लिया है।

जिनकी परिजन-पुरजनों के प्रति भी मोह-ममता नहीं रही है और देह के प्रति भी अपनत्व टूट चुका है, उन्हें तो मृत्यु के भय से भयभीत नहीं होना चाहिए।''

मेरे इस समाधान से विवेकी ने भारी प्रसन्नता प्रगट की।

●

समाधि और सल्लेखना में अन्तर

समाधि समता भाव से सुख-शान्ति पूर्वक जीवन जीने की कला है और सल्लेखना मृत्यु को महोत्सव बनाने का क्रान्तिकारी कदम है, मानव जीवन को सार्थक और सफल करने का एक अनोखा अभियान है।

समाधि साधना और सिद्धि :
ऐसे क्या पाप किए - पृष्ठ-१०५

११

वर्षाऋतु में आवागमन व यातायात की असुविधा के कारण प्रायः सभी जगह धंधा-व्यापार सहज ही कम हो जाता है। इन दिनों शादी-विवाह आदि सामाजिक उत्सव भी नहीं होते, इस कारण लेन-देन एवं क्रय-विक्रय भी कम हो जाता है। कृषकों की फसलें भी खेतों में खड़ी होती हैं, इन सब कारणों से कृषक वर्ग, मजदूर वर्ग एवं व्यापारी वर्ग में इन दिनों धर्म कार्य करने की प्रवृत्ति विशेष देखी जाती हैं। सभी धर्मों के धार्मिक पर्व भी प्रायः इन्हीं दिनों अधिक मनाये जाते हैं।

चातुर्मास के कारण साधु-संतों को भी चार माह तक एक ही स्थान पर ठहरना पड़ता है। इस कारण भी इन दिनों धार्मिक वातावरण बनने का सहज योग बन जाता है।

कारण कुछ भी सही, पर गृहस्थों को कुछ धर्म-कर्म करने का कभी न कभी सुअवसर तो मिल ही जाता है। इसे भी गृहस्थों का सद्भाग्य ही समझना चाहिए, अन्यथा व्यापारी तो इतना व्यस्त व्यक्ति होता है कि वह न कभी चैन से पेट भर भोजन कर सकता है और न कभी नींद भर सो सकता है।

जब भी कोई उससे धर्म-कर्म, पठन-पाठन या मनन-चिन्तन करने की बात करे तो उसका एक ही उत्तर होता है - ''अरे भाई, अभी तो हमें मरने की भी फुरसत नहीं है।'' पर मेरी समझ में उनकी यह बात आज तक नहीं आई कि क्या मौत भी फुरसत वालों के पास ही आती है?

काश! उनकी यह बात यथार्थ होती तो बहुत अच्छा होता। देश के काम भी अधिक से अधिक निपटते और कोई मरता भी नहीं; क्योंकि

सभी अपने को अपने-अपने कामों में व्यस्त रखते; जब किसी को मरने की फुरसत ही नहीं मिलती तो भला कोई मरता ही क्यों!

सदासुखी व विवेकी का भी यह सौभाग्य ही था कि उस पहाड़ी क्षेत्र में जहाँ वे रहते थे, वर्षाऋतु में दो-तीन माह तक पानी कुछ अधिक ही बरसता था। इसकारण उन दिनों वहाँ कुछ दिनों तक पर्यटकों का आवागमन पूरी तरह बंद रहने से व्यापारियों को व्यापार से फुरसत ही फुरसत रहती थी। अतः उन्होंने यही दो माह का समय सपरिवार धर्म लाभ के लिए चुना।

सपरिवार आने के कारण यद्यपि उन्होंने यहाँ केवल दो माह ठहरने का ही संकल्प किया था, पर इस दौरान उन्हें ऐसा लगा कि इस आशातीत धर्मलाभ को छोड़कर, सतत प्रवाहित ज्ञानगंगा की अमृतमय मधुर धारा को छोड़कर फिर राग की आग में जलने के लिए घर जाना ठीक नहीं है। ऐसे दुर्लभ संयोग भी तो सातिशय पुण्य के योग से ही मिलते हैं। इस धर्म लाभ को अभी तो किसी कीमत पर छोड़ना ही नहीं है। भविष्य में भी वर्ष में कम से कम दो तीन माह का समय अवश्य ही निकाला करेंगे।''

तब से वे अपने संकल्प के अनुसार प्रतिवर्ष मेरे पास आते रहे और चार-चार माह रह कर तत्त्वाभ्यास करते रहे।

इस बीच उन्होंने मोक्षमार्ग प्रकाशक को तो आद्योपांत अनेक बार पढ़ा ही; समयसार, नियमसार, प्रवचनसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि अनेक छोटे-बड़े ग्रंथों का भी उन्होंने सूक्ष्मदृष्टि से स्वाध्याय किया।

इनके सिवाय वे विविध कवियों की बारहभावनाओं का तथा वैराग्यभावना, छहढाला, कुन्दकुन्दशतक, शुद्धात्मशतक, जैनशतक और नाटकसमयसार का नियमित रूप से पारायण (पाठ) भी किया करते थे, इससे ये तो उन्हें कंठस्थ ही हो गये थे।

जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धांत वस्तुस्वातंत्र्य, भेदविज्ञान, क्रमबद्धपर्याय, सर्वज्ञता, पुण्य-पाप, निमित्तोपादान, निश्चय-व्यवहार, अनेकांत-स्याद्वाद

चार अभाव, पाँच समवाय, षट्कारक आदि विषयों पर गंभीर चर्चा करके अपनी सम्यक् श्रद्धा को दृढ़ करके कर्त्तव्य के भार से निर्भार होकर निराकुल रहते और आत्मसम्मुख होने का अपूर्व पुरुषार्थ भी किया करते।

उनका मानना व कहना था कि ''यही सुखी होने का सच्चा उपाय है और यही जीवन जीने की सही कला है।'' जिसने इस विधि से जीवन जीना सीख लिया है, उसी का मरण समाधिपूर्वक हो सकता है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की पृष्ठभूमि कैसी होती है, इस पर न केवल उन्होंने चर्चा की, बल्कि अपने जीवन को वैसा ही जीने का प्रयत्न भी किया। चर्चा को चर्या में बदलने का पुरुषार्थ भी किया। ऐसा करके उन्होंने महसूस किया कि वस्तुतः जैनदर्शन और कुछ नहीं, मात्र सुखद जीवन जीने की अद्‌भुत कला है। ''जो जैनदर्शन के अनुसार जीवन जीना सीख लेता है, वह वर्तमान में तो पूर्ण निराकुल, अत्यन्त शांत और पूर्ण सुखी रहता ही है, उसका अनंत भविष्य भी पूर्ण सुखमय, अतीन्द्रिय आनंदमय हो जाता है।''

चार माह तक सतत लाभ मिलने पर भी विवेकी व सदासुखी का मन अभी भी नहीं भरा था। तत्त्वज्ञान की तो प्यास ही कुछ ऐसी होती है, जो जल्दी नहीं बुझती। पर गृहस्थावस्था में रहते हुए अपने घर-परिवार की भी तो अधिक उपेक्षा नहीं की जा सकती। तथा ये लोग अपने परिजन-पुरजनों को भी धार्मिक संस्कार देना चाहते थे, जो उचित भी था; क्योंकि जिनको जो वस्तु अधिक प्रिय प्रतीत होती है, हितकर लगती है, वह अपने प्रियजनों को भी भरपूर बाँट देना चाहते हैं। अतः वे घर से पूर्णनिर्वृत्त होने पर भी कुछ समय अपने परिजन-पुरजनों के साथ रहकर उन्हें भी तत्त्वज्ञान का लाभ दिया करते थे।

इस बार जब उन्होंने घर जाने का कार्यक्रम बनाया तो मुझे यह विचार आया कि क्यों न इन्हें जाते-जाते एक बार पुनः जैनदर्शन के निचोड़ के

रूप में सम्यग्दर्शन, संन्यास एवं समाधि का संक्षिप्त सारांश बता दिया जाय।

एतदर्थ मैंने एक संक्षिप्त भाषण तैयार किया। भाषण तैयार करते समय मुझे यह विचार भी आया। ''पता नहीं इनका पुनः आना बने या न बने, इनसे मेरा मिलन हो या न हो, इस क्षणभंगुर काया का क्या ठिकाना? मैं भी इस लायक रहूँ न रहूँ कि इनसे कुछ कह सकूँ। संभव है हम में से किसी के शरीर की स्थिति ही ऐसी न रहे, जिससे पुनर्मिलन हो सके। अतः भविष्य की आशा में वर्तमान को खोना कोई समझदारी की बात नहीं होगी।''

यह सोचकर मैंने उनकी 'विदाई की बेला' पर एक दीक्षांत भाषण देने की घोषणा कर दी।

घोषणा करते तो कर दी, पर भाषण का विषय क्या हो? उसका प्रस्तुतीकरण कैसे किया जाय? मेरे लिए यह एक समस्या बन गई।

चार जने बैठकर परस्पर चर्चा करना अलग बात है, और भाषण देना अलग। भाषण देना हर एक के वश की बात नहीं है। **भाषण तो अपने विचारों की, अपने चिन्तन की एक कलात्मक अभिव्यक्ति है। मंच पर खड़े होकर बिना सोचे-समझे जोशीली भाषा में कुछ भी कह जाना भाषण नहीं हैं।**

अच्छे भाषण के लिए पूर्वाग्रह से रहित किसी निर्धारित विषय पर, गंभीरतापूर्वक, सुविचारित, व्यवस्थित विचारों को विषय के अनुरूप भाषा देना अत्यावश्यक है।

विषय के सही संप्रेषण के लिए भाषा का सरल, सुबोध, परिमार्जित और देश-काल के अनुरूप होना भी आवश्यक है।

मेरा सोचना था कि कितना भी परिश्रम क्यों न करना पड़े पर श्रोताओं को पूरा-पूरा लाभ मिलना चाहिए। यह सोचकर मैं लिखित भाषण बोलने की तैयारी में जुट गया।

मैंने सुन रखा था कि ''लेखकों को जब तक फाडू रोग नहीं लगता, तब-तक वे सफल लेखक नहीं बन पाते। इस फाडू रोग की भी एक रोमांचक कहानी है - एक व्यक्ति लेखक बनने की धुन में रात में दो-दो बजे तक लेख लिखता और प्रातः उठकर जब वह स्वस्थ चित्त में - फ्रेस माइन्ड में अपने ही लिखे लेखों को पढ़ता तो स्वयं के लिखे लेख स्वयं को ही पसंद नहीं आते और वह उन्हें फाड़ कर फैंक देता।

ऐसा करते हुए जब उसे कई दिन हो गये तो उसके माता-पिता को चिन्ता हुई कि इसे यह क्या हो गया है? यह रोज देर रात तक जाग-जागकर इतने परिश्रम से तो लिखता है और सवेरे पढ़कर स्वयं ही सब फाड़कर फैंक देता है। इसे जरूर कोई मानसिक रोग हुआ है।

वे घबराये और उसे एक मनोचिकित्सक के पास ले गये। उन्होंने उसका हाल सुनाते हुए कहा - डाक्टर साहब! इसे 'फाडू रोग' हो गया है।''

चिकित्सक उसके लक्षणों से सब कुछ समझ गया। उसने कहा - ''भाई! वैसे तो यह रोग सभी उदीयमान लेखकों को होता है और होना ही चाहिए, अन्यथा लेखक नहीं बना जा सकता। फिर भी यदि आपको इष्ट न हो तो इसकी रामबाण औषधि भी मेरे पास है।

उसके माता-पिता ने कहा - ''रोग तो कोई भी भला नहीं होता। आप तो इसका उपचार कर ही दीजिए।''

चिकित्सक ने कहा - ''ठीक है, आप लोग, इसे प्रतिदिन प्रातः शाम भैंस का दूध पिलाया करो और भैंस का ही दहि खिलाया करो। सायंकाल भैंस के दूध-घी से बने तथा नाना प्रकार के मधुर व्यंजन भी खूब मना-मना कर खिलाया करो। इस तरह स्वादिष्ट गरिष्ठ भरपेट भोजन कराने से कुछ ही दिनों में इसका यह रोग ठीक हो जायेगा।''

ऐसा करने से उसे शाम से ही गहरी नींद आने लगी और वह कुछ ही दिनों में भैंस की भाँति ही सुस्त व आलसी हो गया। इसे किसी भी काम को बार-बार करने में आलस आने लगा। लेखक बनने का उत्साह तो ठंडा हो ही गया, नियमित स्वाध्याय व पठन-पाठन में भी आलसी हो गया। अब तो उसे एक-एक पत्र लिखने में भी आलस आने लगा। अब जब वह कुछ लिखता ही नहीं तो फाड़ता क्या? इस तरह उसका 'फाडू' रोग ठीक हो गया।''

फाडू रोग तो मुझे भी हुआ था, पर गनीमत यह रही, सौभाग्य यह रहा कि इसका उपचार कराने के लिए मैं किसी चिकित्सक के पास नहीं गया। अन्यथा शायद मेरी भी वही स्थिति होती, जो इस कहानी के नायक की हुई।

मैंने तो अपना वही पुराना रास्ता अपनाया। जब तक एक-एक पंक्ति पर पूर्ण संतोष नहीं होता, मैं परिश्रम की परवाह किए बिना पूरे पन्ने के पन्ने फाड़ देता और पुनः लिखता। रात तो बहुत बीत गई, पर प्रयत्न करते-करते भाषण की एक अच्छी रूपरेखा तैयार हो गई और मैं सुख की नींद सो गया।

●

१३

मैं सुना करता था कि साहित्यकारों को एक-एक रचना में एक-एक पुत्र प्राप्ति जैसी सुखानुभूति होती है; पर इसका प्रत्यक्ष अनुभव मुझे उस रात हुआ जब मेरे दीक्षांत भाषण की एक सुन्दर रूपरेखा तैयार हो गई थी।

यद्यपि उस रात मैं बहुत देर से सो पाया था, पर अति उत्साह के कारण अगले दिन मैं समय पर उठ गया और जल्दी-जल्दी तैयार होकर समय के पूर्व ही वहाँ पहुँच गया, जहाँ दीक्षांत भाषण का कार्यक्रम रखा गया था।

सभा की प्राथमिक औपचारिकता के उपरान्त अपना भाषण प्रारंभ करते हुए मैंने कहा - ''विदाई के क्षण भी बड़े विचित्र होते हैं। चाहे वे बेटी की विदाई के क्षण हों या धर्मात्माओं की चिरविदाई के; दोनों ही स्थितियों में सभी को हर्ष-विषाद एवं सुख-दुःख की मिली-जुली ऐसी विचित्र अनुभूति होती है, जिसे वाणी से व्यक्त नहीं किया जा सकता।

एक ओर जहाँ विदाई के बाद चिरप्रतीक्षित दुर्लभ मनोरथों के साकार होने का हर्ष होता है, वहीं दूसरी ओर अपने संबंधियों से सदा-सदा के लिए बिछुड़ने का असीम दुःख भी होता है।

वह स्थिति तो और भी विचित्र हो जाती है, जब चिरविदाई के समय एक ओर तो मृत्यु को महोत्सव जैसा मनाने की बात कही जाती है और दूसरी ओर अनन्तकाल के लिए अपने इष्टजनों के वियोग की असह्य मानसिक वेदना का पहाड़ सामने खड़ा दिखाई देता है।

यद्यपि इन परिस्थितियों में मरणासन्न साधकों के मन में अन्तर्द्वन्द्व भी होता है पर वे उस अन्तर्द्वन्द्व को जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में किए गये तत्त्वाभ्यास

के सहारे उपशांत कर लेते हैं, उस द्वन्द्व पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। उस विजय के हर्ष में ही उनकी वह मृत्यु महोत्सव बन जाती है।

वह जानता है कि मृत्यु तो सभी की एक न एक दिन होने वाली ही है। इस ध्रुवसत्य से तो कोई कभी इंकार ही नहीं कर सकता। जिन्होंने जन्म लिया है, उन्हें आज नहीं तो कल - कभी न कभी तो मरना ही है और जिनका संयोग हुआ है, उनका वियोग भी अवश्य होना ही है। इस स्थिति को कोई भी टाल नहीं सकता। तो क्यों न हम वह क्षण आने के पूर्व ही दूसरों के प्रति अपने कर्त्तव्यों की तथा दूसरों पर अपने अधिकारों की समीक्षा करलें, कर्त्तव्यों एवं अधिकारों की यथार्थता को अच्छी तरह समझ लें; ताकि बाद में किसी को कोई पछतावा न रहे।

आज तक हम मुख्यतः इन्हीं दो बातों से सर्वाधिक प्रभावित रहे हैं। हम अपने अज्ञान से अब तक ऐसा मान बैठे थे कि 'परिवार का पालन-पोषण करना, उन्हें पढ़ा-लिखा कर चतुर बनाना और उन सबके लिए जैसे भी हो वैसे धनार्जन करना हमारे प्रमुख कर्तव्य हैं। इसके बदले में कुटुम्ब-परिवार हमारी भरपूर सेवा करें, हमारी आज्ञा में रहे, जैसा हम कहें वही करें - यही हमारा उन पर अधिकार है।'

इन कर्तव्यों एवं अधिकारों की अनधिकार चेष्टाओं से हम अब तक परेशान रहे हैं, पर जिनागम के अध्ययन-मनन एवं अभ्यास से आज हमें यह पता चला है कि वस्तुतः सब अपने-अपने ही कर्ता-भोक्ता हैं, सब मात्र अपने ही भाग्यविधाता हैं।

कोई भी किसी के सुख-दुःख का, जीवन-मरण का, उन्नति-अवनति का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं है, कोई किसी का भला-बुरा कुछ भी नहीं कर सकता। अपने ये कर्तृत्व के विकल्प सब निरर्थक हैं। अतः अब हम घर-गृहस्थी के कर्त्तापने के भार से पूर्ण निर्भर होकर तथा दूसरों के भला-बुरा

करने की चिन्ता से मुक्त होकर, निश्चिन्त होकर क्यों न अपने स्वरूप में जमने-रमने का प्रयत्न करें?

संयोग न सुखद है न दुःखद। दुःखद तो केवल संयोगी भाव होते हैं, अतः संयोगों पर से दृष्टि हटा कर स्वभाव सन्मुख दृष्टि करना ही श्रेष्ठ है।

सम्यग्दृष्टि की दृष्टि से मृत्यु इतनी गंभीर समस्या नहीं है; क्योंकि उसे मृत्यु में अपना सर्वस्व नष्ट होता प्रतीत नहीं होता। वह यह बात अच्छी तरह जानता है कि मृत्यु केवल पुराना झोंपड़ा छोड़कर नये भवन में निवास करने के समान स्थानान्तरण मात्र है, पुराना मैला-कुचैला वस्त्र उतार कर नया वस्त्र धारण करने के समान है।

यदि वह नूतनगृह प्रवेश के उत्सव की तरह मृत्यु को महोत्सव के रूप में मानता है तो भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है और यदि बहुत समय से रह रहे झोंपड़े के प्रति सहज अनुराग वश थोड़ी खिन्नता भी दिखाई दे जाय तो यह भी असंभव नहीं है। ऐसा होना भी स्वाभाविक ही है।

मिथ्यादृष्टि की दृष्टि इसके विपरीत होती है। एक तो उसकी स्थिति उस दरिद्री के समान होती है, जिसने जीवन में कुछ नहीं कमाया। अपने रहने के लिए भवन तो दूर, एक झोंपड़ा भी नहीं बना पाया। यदि मकान मालिक ने उसे अपने मकान से निकाल दिया तो दर-दर की ठोकरें खाने के सिवाय अन्य कोई चारा नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति में उसका दुःखी होना स्वाभाविक ही है।

जिसने जीवन भर पापाचरण ही किया हो, नरक-निगोद जाने की तैयारी ही की हो, उसका तो रहा-सहा पुण्य भी अब क्षीण हो रहा है, उस अज्ञानी और अभागे के दुःख को कौन दूर कर सकता है? अब उसके मरण सुधरने का तो प्रश्न ही नहीं रहा, उसकी तो आगामी गति के अनुसार मति बिगड़ना ही है।

इसप्रकार मृत्यु पर आँसू बहाने वाले मिथ्यादृष्टि एवं मृत्यु को महोत्सव में बदल देने वाले सम्यग्दृष्टि की स्थिति को तथा उनकी वर्तमान भूमिका को स्पष्ट करते हुए मैंने अपने उस दीक्षांत भाषण में आगे कहा –

''सम्यग्दृष्टि भगवान आत्मा को ज्ञानज्योतिस्वरूप चैतन्य देव के रूप में देखता है। वह अपने स्वरूप को परद्रव्यों से पृथक, रागादि से रहित, शाश्वत ज्ञाता-दृष्टा ही जानता है, मानता है तथा मृत्यु को केवल देह से देहान्तर होने रूप क्रिया मानता है। इस कारण वह मृत्यु से नहीं डरता। जबकि मिथ्यादृष्टि को अनादि से देह में अपनापन होने से उसे मृत्यु में अपना सर्वस्व लुटा-लुटा-सा लगता है, सर्वस्व समाप्त हुआ सा प्रतीत होता है, इस कारण उसका दुःखी होना, भयभीत होना भी स्वाभाविक ही है।''

सम्यग्दृष्टि तो समय-समय पर शरीर के संबंध में यह विचार करके विरक्त रहता है कि – ''आज तक इतने वर्षों से मेरे संयोग में रह रहे इस शरीर के अनन्त पुद्गल परमाणुओं का मेरे अनुकूल परिणमन हो कैसे रहा है? इसमें यदि किसी को आश्चर्य हो तो हो; इनके विघटने में क्या आश्चर्य!''

''नौ दरवाजों का पिंजरा, तामें सुआ समाय।
उड़वे को अचरज नहीं, अचरज रहवे माहिं।।''

अतः उसे मृत्युभय नहीं होता।

ज्ञानी विचार करता है कि – ''जिसप्रकार जिस मिट्टी के सांचे में शुद्ध चाँदी की मूर्ति बनाई जाती है, ढाली जाती है, वह साँचा टूटने पर चाँदी की मूर्ति नहीं टूटती, वैसे ही शरीररूपी सांचे में आत्मा की मूर्ति विराजती है, जो कभी नहीं टूटती-फूटती।''

सम्यग्दृष्टि को देह में आत्मबुद्धि नहीं रहती। वह देह की नश्वरता, क्षण-भंगुरता से भली भाँति परिचित होता ही है, उसकी जड़ता-अचेतनता से भी परिचित हो जाता है।

पर व पर्याय से भेदज्ञान होने से उसे अपने आत्मा में ही अपनापन रहता है। अतः श्रद्धा व विवेक के स्तर पर उसे मृत्युभय नहीं होता।

संभव है, कोई सम्यग्दृष्टि भी आचरण के स्तर पर उसे मृत्यु को महोत्सव की तरह नहीं मना पाये। उसे भी बाहर से मिथ्यादृष्टि की तरह आँसू बहाते देखा जा सकता है। पुराणों में भी ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। रामचन्द्रजी क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, फिर भी छह महीने तक लक्ष्मण के शव को कंधे पर ढोते फिरे।

कविवर बनारसीदास की मरणासन्न विपन्न अवस्था देखकर लोगों ने यहाँ तक कहना प्रारंभ कर दिया था कि – ''पता नहीं इनके प्राण किस मोह-माया में अटके हैं?''

लोगों की इस टीका-टिप्पणी को सुनकर उन्होंने संकेत द्वारा स्लेटपट्टी माँगी और उस पर लिखा :-

ज्ञान कुतक्का हाथ, मारि अरि मोहना।
प्रगट्यो रूप स्वरूप अनंत सु सोहना।।
जा परजे को अन्त सत्यकरि जानना।
चले बनारसी दास, फेर नहिं आवना।।

मृत्यु के समय ज्ञानी की आँखों में आँसू देखकर ही उसे अज्ञानी नहीं मान लेना चाहिए; क्योंकि उसके अभी केवल अनन्तानुबंधी क्रोधादि कषायों का ही तो अभाव हुआ है। अप्रत्याख्यानादि तीन कषायों की चौकड़ी तो अभी भी उसके विद्यमान हैं, अतः श्रद्धा तो ज्ञानी की सिद्धों के समान निर्मल हो गई है, पर चारित्रगुण में अभी कमजोरी है, इस कारण वियोगजनित क्षणिक दुःख का वेग आ जाना अस्वाभाविक नहीं है। अपनी श्रद्धा को मजबूत करने के लिए वह बारम्बार अपने मन को समझाते हुए कहता है –

हमको कछु भय ना रे!
जाकरि जैसे जाहि समय में जो होतब जा द्वार,
सो बनि है, टरि है कछु नाहिं, कर लीनों निरधार।
हमको कछु भय ना रे! जान लियो संसार।।

जो कार्य जिसके द्वारा, जिस विधि से, जिस समय, जिन कारणों के माध्यम से होना है, वह कार्य उसी के द्वारा, उसी विधि से, उसी समय, उन्हीं कारणों के माध्यम से होता ही है; उसे किसी भी प्रकार टाला नहीं जा सकता।

आचार्यों के कथनों को स्मरण करते हुए वह अपने मन को समझाता है। हे मन! तू अन्य विकल्प छोड़ और श्री गुरुओं के उन कथनों पर विचार कर, जिसमें वस्तु के स्वतंत्र परिणमन की स्पष्ट उद्घोषणा की गई है।

स्वामी कार्तिकेय कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहते हैं –

''जं जस्स जम्मि देसे, जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं, जम्मं वा अहव मरणं वा।।
त तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कदि वारेदुं इंदो वा तह जिणिन्दो वा।।

जिस जीव का जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से, जो जन्म-मरण जिनदेव ने नियतरूप से जाना है, उस जीव का उसी देश में, उसी काल में, उसी विधान से वह अवश्य होता है, उसे इंद्र अथवा जिनेन्दर टालने में समर्थ नहीं हैं, अन्य की तो बात ही क्या है।

ज्ञानी विचार करता है कि तीन लोक में जितने पदार्थ हैं, वे सब अपने-अपने स्वभाव से परिणमन करते हैं, कोई किसी का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है। जब यह शरीर स्वयं ही उत्पन्न होता है और स्वयं ही बिछुड़ता है, स्वयं ही गलता है, स्वयं ही बढ़ता है तो फिर मैं इस शरीर का कर्त्ता-भोक्ता कैसे?

इस स्थिति में मेरे रखने से वह शरीर कैसे रहे? वस्तुतः मैं इसमें कुछ भी फेर-बदल या परिवर्तन नहीं कर सकता।

मैं तो मात्र अपने ज्ञायकस्वभाव का ही कर्त्ता-भोक्ता हूँ। उसी का वेदन व अनुभव करता हूँ, कर सकता हूँ। इस शरीर के नष्ट हो जाने से मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं और इसके रहने से कुछ भी लाभ नहीं।

वैसे भी यह देह अत्यन्त अपवित्र है, अस्थिर है, घिनावनी है, इसमें रंच-मात्र भी सार नहीं है। चमड़े में लिपटी सुन्दर दीखने वाली यह देह सात कुधातुओं से भरी हुई मल-मूत्र की मूर्ति ही है। इसके नव द्वारों से दिन-रात ऐसा मैल बहता रहता है, जिसके नाम लेने से ही घृणा उत्पन्न होती है, जिसे अनेक व्याधियाँ (बीमारियाँ) निरन्तर लगीं रहतीं हैं। उस देह में रहकर आज तक कौन सुखी हुआ है?

इसका स्वरूप रमने योग्य नहीं है, अपितु छोड़ने योग्य है। अतः हे भव्य प्राणियो! इस मानव तन को पाकर महातप करो; क्योंकि इस देह पाने का सार तो आत्महित कर लेने में ही है।

इस तरह संसार, शरीर और आत्मा के स्वरूप के यथार्थ ज्ञान हो जाने से भेद-विज्ञानी सम्यग्दृष्टि मृत्यु से नहीं डरता।

जिसे जगत हौवा समझ बैठा है, वह मृत्यु ज्ञानी को मित्र के समान हितकारी प्रतीत होती है। क्यों न हो? होना ही चाहिए। क्योंकि वह जानता है कि यह मृत्यु ही मुझे इस घृणित जीर्ण-शीर्ण, दुःखद देह-रूप कारागृह से मुक्त कराती है।

जिस देह को अज्ञानी अपना जानकर, अपना मानकर उसमें रमा रहता है; उस देह के संबंध में यदि जरा भी गहराई से विचार करें तो ज्ञात हो जायेगा कि इसमें क्या-क्या गंदगी भरी है? इसकी असलियत क्या है? यह काया कितनी क्षण भंगुर व नाशवान है?

निम्नांकित पंक्तियों से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है –

जिस देह को निज जानकर, नित रम रहा जिस देह में।
जिस देह को निज मानकर, रच-पच रहा जिस देह में।।
जिस देह में अनुराग है, एकत्व है जिस देह में।
क्षण एक सोचा कभी क्या-क्या भरा उस देह में।।

और भी देखिए क्या-क्या कहा है इस देह के बारे में हमारे मनीषियों ने –

देह अपावन अथिर घिनावनी, यामें सार न कोई।
सागर के जल सों शुचि कीजै, तो भी शुद्ध न होई।।

सात कुघातमयी मल मूरत, चाम लपेटी सोहै।
अन्तर देखत या सम जग में और अपावन को है।।
नवमल द्वारा बहे निश-वासर, नाम लिए घिन आवे।
व्याधि-उपाधि अनेक जहँ-तहँ कौन सुधी सुख पावे।।
राचन जोग स्वरूप न याकौ, विचरन जोग सही है।
यह तन पाय महातप कीजै, या में सार यही है।।

इस प्रकार वस्तुस्वरूप के बारम्बार चिन्तन-मनन करते रहने से ज्ञानी की श्रद्धा तो सुदृढ़ होती ही है, धीरे-धीरे आचरण भी श्रद्धा के ही अनुरूप होने लगता है; फलस्वरूप उसका मरण भी सहज ही समाधिमय हो जाता है।

सदासुखी ने जिज्ञासा प्रगट की - ''क्या सब सहज ही होता है? क्या मरणासन्न व्यक्ति को सल्लेखना धारण करने की जरूरत नहीं है? शास्त्रों में तो सल्लेखना लेने की बहुत विस्तार से चर्चा की गई है। क्या सल्लेखना और समाधिमरण कोई अलग-अलग है?''

सदासुखी के एक साथ प्रश्न सुनकर मुझे मन ही मन प्रसन्नता हुई, पर उन प्रश्नों के सही समाधान के लिए विस्तृत चर्चा अपेक्षित थी, अतः मैंने कहा ''भाई! तुम्हें इन प्रश्नों को समझने के लिए कम से कम एक दिन और रुकना पड़ेगा।''

सदासुखी और विवेकी ने सहर्ष जाने का कार्यक्रम स्थगित करके दो दिन और रुकने का निश्चय कर लिया। सो ठीक ही है, जिसे सत्य को समझने की लगन लग जाती है, उसके लिए एक दिन रुकने की तो बात ही क्या है वह तो सर्वस्व समर्पण करने के लिए सदैव तत्पर रहता है।

●

१४

''निर्भय व निर्लोभी हुए बिना सत्य कहा नहीं जा सकता और संपूर्ण समर्पण के बिना सत्य सुना व समझा नहीं जा सकता।'' - इस तथ्य से सुपरिचित सदासुखी और विवेकी अगले दिन समय से पाँच मिनट पहले ही मेरे पास आ आ गये और अत्यन्त विनम्र भाव से पूछे गये प्रश्नों के उत्तर की चातक की भाँति प्रतीक्षा करने लगे।

समाधि के स्वरूप एवं उसके उपायों के संबंध में तो पर्याप्त चर्चा हो ही चुकी थी, पर आगम में आये सल्लेखना के स्वरूप की चर्चा अभी शेष थी, इस कारण इस संबंध में उनकी जिज्ञासा स्वाभाविक थी।

मैंने सल्लेखना के संबंध में आगम के आधार पर उन्हें सरल शब्दों में समझाने का प्रयत्न किया।

मैंने कहा - ''सल्लेखना जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है, जो दो शब्दों से मिलकर बना है - सत् + लेखना = सल्लेखना। जिसका अर्थ होता है सम्यक् प्रकार से काय और कषाय को कृश करना।[१]

जब उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा या असाध्य रोग आदि कोई ऐसी अनिवार्य परिस्थिति उत्पन्न हो जावे, जिसके कारण धर्म की साधना संभव न रहे, तो वस्तुस्वरूप की समझ एवं आत्मा के आश्रय से कषायों को कृश करते हुए अनशनादि तप द्वारा काय को कृश करके धर्म रक्षार्थ मरण को वरण करने का नाम सल्लेखना है। इसे मृत्यु महोत्सव भी कहते हैं।

धर्म आराधक उपर्युक्त परिस्थिति में प्रीतिपूर्वक प्रसन्नचित्त से बाह्य में शरीरादि संयोगों को एवं अंतरंग में राग-द्वेष आदि कषाय भावों को

१ 'सम्यक्' काय + कषाय लेखना सल्लेखना ''कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणा च कषायाणां तत्कारण हापन क्रमेण सम्यगल्लेखना सल्लेखना'' - सर्वार्थसिद्धि १७/२२

क्रमशः कम करते हुए परिणामों में शुद्धि की वृद्धि के साथ शरीर का परित्याग करता है। बस यही संक्षेप में सल्लेखना का स्वरूप है।

समाधि की व्याख्या करते हुए शास्त्रों में कहा गया है कि **'समरसी भावः–समाधिः, समरसी भावों का नाम समाधि है। उत्तम परिणामों में चित्त को स्थिर रखना या पंचपरमेष्ठी को स्मरण करना समाधि है।**[१]

समाधि में त्रिगुप्ति की प्रधानता होने से समस्त विकल्पों का नाश होना मुख्य है। मुनिराजों के समस्त शुभाशुभ विकल्प छूट जाते हैं, इसलिए वे परमसमाधि के धारक होते हैं।

वचनोच्चारण की क्रिया परित्याग कर संयम, नियम एवं तप पूर्वक निज शुद्धात्मस्वरूप का ध्यान परमसमाधि है।[२]

सल्लेखना में जहाँ काय या कषाय को कृश करना मुख्य है, वही समाधि में निज शुद्धात्मस्वरूप का ध्यान प्रमुख है।

वैसे तो सल्लेखना व समाधि शब्द पर्यायवाची शब्द के रूप में भी प्रयुक्त हुए हैं, फिर भी सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाधि से ही सल्लेखना सफल हो सकती है। जब तक जीवन में पर के प्रति समरसी भाव या साम्यभाव नहीं होगा तबतक कषायों का कृश कर पाना संभव ही नहीं है और कषायें कृश हुए बिना शरीर को कृश करने का कुछ भी अर्थ नहीं है। कषायों के साथ काय का कृश करना ही सल्लेखना है। केवल काय को कृश करना तो आत्मघात है, सल्लेखना नहीं।''

इसप्रकार सल्लेखना व समाधि का संक्षेप में अन्तर स्पष्ट करते हुए मैंने उनसे सल्लेखना के भेद-प्रभेदों की भी संक्षेप में चर्चा की, जो इस प्रकार है – सल्लेखना के कई प्रकार से भेद किए जा सकते हैं। जैसे कि –

१ महापुराण २१ – २२६
२ परमात्मप्रकाश १९०

नित्यमरण व तद्भवमरण की अपेक्षा नित्यमरण सल्लेखना एवं तद्भवमरण सल्लेखना ये दो भेद हैं।

(१) नित्यमरण – प्रतिसमय आयुकर्म के क्षय के साथ द्रव्य-सल्लेखनापूर्वक विकारी परिणाम विहीन शुद्ध परिणमन नित्य मरण सल्लेखना है।

(२) तद्भव मरण – भुज्यमान (वर्तमान) आयु के अन्त में शरीर और आहार आदि के प्रति निर्ममत्व होकर साम्यभाव से शरीर त्यागना तद्भव मरण सल्लेखना है।

विवेकी ने पूछा – ''ये तो ठीक, पर शास्त्रों में कायसल्लेखना, कषाय-सल्लेखना, भक्त प्रत्याख्यान आदि नाम भी तो सल्लेखना के प्रकरण में आते हैं। ये क्या हैं? इनका क्या स्वरूप है? तथा इनके धारण की विधि क्या है? यह भी हम जानना चाहते हैं, कृपया इनका भी स्पष्टीकरण कर दीजिए?

मैंने कहा – ''काय को कृश करना, सहनशील बनाना कायसल्लेखना है।'' यदि काय को पुष्ट किया, आरामतलब बनाया तो इंद्रियों के विषयों में अधिक प्रवृत्ति होती है, आत्मा मलिन होता है, काम वासना बढ़ती है, निद्रा प्रमाद आलस्य आता है। वात-पित्त-कफ आदि रोग हो जाते हैं। अतः समाधिधारक को तपश्चरण द्वारा काया को कृश करना आवश्यक है।

जैसी आयु की स्थिति जाने, तदनुसार देह से ममत्व कम करते हुए आहार के आस्वाद से विरक्त हो, रसों की गृद्धता छोड़कर नीरस आहार लेना प्रारंभ करें। एतदर्थ कभी उपवास, कभी एकाशन, कभी नीरस आहार, कभी अल्प आहार (ऊनोदर) – इस तरह क्रम-क्रम से अपनी शक्ति प्रमाण आहार को कम करते हुए दूध पर आवे, दूध से छाछ, छाछ से गर्म पानी तत्पश्चात पानी का भी त्याग करके देह का त्याग करना काय-सल्लेखना है।

भक्तप्रत्याख्यान सल्लेखना में भी इसी प्रकार भोजन का त्याग होता है। भोजन के त्याग की मुख्यता से इसे ही भक्तप्रत्याख्यान कहते हैं। इसका उत्कृष्ट काल बारह वर्ष व जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है।

राग-द्वेष मोहादि भावों को कृश करना कषायसल्लेखना है। कषायसल्लेखना बिना काय सल्लेखना निरर्थक है। जो राग-द्वेष व विषय-कषाय जीत सकेगा, उसी के समाधिमरण संभव है।

आगम में मरण या समाधिमरण के उल्लेख अनेक अपेक्षाओं से हुए हैं। पाँच प्रकार के मरण की अपनी एक अपेक्षा है, इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार हैं :-

(१) पण्डित पण्डित मरण :- केवली भगवान के देह विसर्जन को पण्डित-पण्डित मरण कहते हैं। इस मरण के बाद जीव पुनः जन्म धारण नहीं करता।

(२) पण्डित मरण :- यह मरण छठवें गुणस्थानवर्ती मुनियों के होता है। एक बार ऐसा मरण होने पर दो-तीन भव में ही मुक्ति हो जाती है।

(३) बाल पण्डित मरण :- यह मरण देशसंयमी के होता है। इस मरण के होने पर सोलहवें स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है।

(४) बाल मरण :- यह मरण चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि के होता है। इस मरण से प्रायः स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

(५) बाल-बाल मरण :- यह मरण मिथ्यादृष्टि के होता है। यह मरण करने वाले अपनी लेश्या व कषाय के अनुसार चारों गतियों के पात्र हो सकते हैं।

यद्यपि पाँचवे बाल-बाल मरण को छोड़कर उपर्युक्त चारों प्रकार के मरण समाधिपूर्वक ही होते हैं, पर स्वरूप की स्थिरता और परिणामों की विशुद्धता अपनी-अपनी योग्यतानुसार अलग-अलग होती है।''

सदासुखी और विवेकी मेरे द्वारा इतनी विस्तृत जानकारी पाकर भारी प्रसन्न हुए। उन्होंने कृतज्ञता प्रगट करते हुए अंतिम प्रश्न पूछा -

''समाधिधारक व्यक्तियों को किस प्रकार संबोधित किया जाये, जिससे परिणाम समाधिमय हो सकें? तथा वेदना से उनका चित्त विभक्त न हो उपयोग की एकाग्रता खण्डित न हो और पीड़ा चिन्तन में उपयोग न जाय।''

उनकी इस परोपकारी मंगलमय भावना का आदर करते हुए मैंने कहा - ''यद्यपि दूसरों को समझाने की आपकी भावना उत्तम है, पर वस्तुतः दूसरों को समझाना सहज कार्य नहीं है; क्योंकि समझ बाहर से नहीं, अंदर से, अन्तर्मन से आती है। फिर भी करुणावश या धर्मस्नेहवश यदि कभी विकल्प आवे तो साधक की स्थिति देखकर जैसी परिस्थिति हो, जिन कारणों से वह स्वरूप से विचलित हो रहा हो, उनकी सार्थकता व निरर्थकता का ज्ञान कराया जाना चाहिए।

उदाहरणार्थ - कोई व्यक्ति असाध्य रोग और उससे उत्पन्न वेदना से पीड़ित हो, पीड़ाचिन्तन आर्तध्यान कर रहा हो, अथवा भूख-प्यास व इंद्रियों के विषयों की वांछा से खेद-खिन्न हो रहा हो, संक्लेश कर रहा हो या स्त्री-पुत्रादि के प्रति विशेष अनुरागी होकर इष्ट वियोगज आर्तध्यान कर रहा हो तो उससे कहें कि -

''हे भव्य आत्मन्! जो दुःख तुम्हें अभी है इससे भी अनन्त गुणे दुःख तुम इस जगत में अनन्तबार जन्म-मरण करके भोग चुके हो, फिर तुम्हारे आत्मा का क्या बिगड़ा? कुछ भी तो नहीं बिगड़ा। अतः अब इस थोड़े से दुःख से क्या घबराना?

देखो, तुम्हारा यह पीड़ाचिन्तन आर्तध्यान फिर नये दुःख के बीज बो रहा है। अतः इस पीड़ा पर से अपना ध्यान हटाकर आत्मा पर केन्द्रित करो, जिससे पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा तो होगी ही, नवीन कर्मों का बंध भी नहीं होगा।

जो असाता कर्म उदय में आया है, उसे सहना तो पड़ेगा ही। यदि समतापूर्वक, साम्यभावों से सह लोगे तथा तत्त्वज्ञान के बल पर संक्लेश

परिणामों से बचे रहोगे और आत्मा की आराधना में लगे रहोगे तो दुःख के कारणभूत सभी संचितकर्म क्षीण हो जायेंगे।

तुम चाहे निर्भय रहो या भयभीत, रोगों का उपचार करो या न करो, जो प्रबलकर्म उदय में आया है, वह तो फल दिए बिना जायेगा नहीं। रोगोपचार भी कर्म के मंद उदय में ही अपना कार्य करेगा। जब तक असाता कर्म का प्रबल उदय रहता है, तब तक कोई भी औषधि निमित्त रूप से भी कार्यकारी नहीं होती। अन्यथा बड़े-बड़े वैद्य, डॉक्टर तथा राजा-महाराजा तो कभी बीमार ही नहीं पड़ते; क्योंकि उनके पास उपचार के साधनों की क्या कमी? अतः स्पष्ट है कि होनहार के आगे किसी का भी वश नहीं चलता।

ऐसा मानकर समताभाव से उस दुःख के भी ज्ञाता-दृष्टा रहना योग्य है। ऐसा करने से ही व्यक्ति अपने मरण को समाधिमरण के रूप में परिणत कर सकते हैं।

यदि अशह्य वेदना हो रही हो और उपयोग आत्मा में न लगता हो तो उस समय 'संसार, शरीर व भोगों से विरक्त, स्वरूपसाधक, उपसर्गजयी गजकुमार, सुकौशल एवं सुकुमाल जैसे सुकुमार मुनिराजों द्वारा कठोर साधना करने एवं उनमें असह्य वेदना को सहने की सामर्थ्य कहाँ से, कैसे आ गई?' इसका विचार करो और सोचो कि इनकी तुलना में हमें तो कुछ भी कष्ट नहीं है।''

ऐसा सोचने, विचार करने से हममें भी भेदविज्ञान के बल से वैसा ही साहस व सामर्थ्य प्रगट होने लगेंगे, जिससे कठिनतम प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करने की शक्ति हममें अवश्य प्रगट होगी।''

मेरे विचार से सदासुखी एवं विवेकी आश्वस्त तो हुए, पर अब उनके मन में उन उपसर्गजयी संतों के जीवनदर्शन को जानने की उत्कृष्ट अभिलाषा जागृत हो गई। एतदर्थ उन्होंने अपने घर जाने के कार्यक्रम को और एक सप्ताह के लिए स्थगित कर दिया।

मैंने भी उन्हें कतिपय उपसर्गजयी समाधिधारक महान आत्माओं के प्रेरणादायक जीवन-दर्शन कराने का निश्चय कर लिया। ●

१५

कोई कितने ही प्रयत्न क्यों न करें, पर होनहार को कोई टाल नहीं सकता। जो होना है वह तो होकर ही रहता है।

'द्वारिका द्वीपायन मुनि के निमित्त से जलकर भस्म हो जायेगी', इस भविष्यवाणी को सुनकर द्वीपायन बारह वर्ष के लिए द्वारिका छोड़कर चले गये, उन्होंने सोचा - 'न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी', फिर भी क्या वे उसे जलने से रोक पाये? नहीं, नहीं रोक पाये। द्वारिका जली और द्वीपायन मुनि के निमित्त से ही जली।

सुकुमाल को वैराग्य न हो जाए एतदर्थ उसकी माँ सुभद्रा ने क्या कम कोशिशें कीं? लाखों-लाख प्रयत्न किए। न केवल उसे वैराग्य के वातावरण से बचाया, साधु समागम से दूर रखा, साथ ही उसे संसार में उलझाये रखने के लिए भी राग-रंग एवं भोगमय वातावरण बनाने के भरपूर प्रयत्यन किए। सभी प्रकार के सुखद संयोग मिलाये।

इसके लिए सुभद्रा ने अपने बेटे की एक-दो नहीं बत्तीस-बत्तीस शादियाँ की और एक से बढ़कर एक अतिसुन्दर सर्वगुण संपन्न ऐसी पतिसेवापरायण बत्तीस पत्नियाँ सुकुमाल की सेवा में खड़ी कर दीं, जो अपने पति की सेवा-सुश्रूषा में सतत सावधान रहतीं। इसतरह संसार में जो भी सुख संभव थे, माँ सुभद्रा ने सुकुमाल के लिए वे सब जुटाये, सभी भोगोपभोग सामग्री जुटाकर उसे भोगों में आकंठ निमग्न कर दिया। पर क्या इससे सुभद्रा का चाहा हो पाया? नहीं, अन्ततोगत्वा हुआ वही, जो होना था।

भविष्यवाणी के अनुसार सुभद्रा के पति सेठ सुरेन्द्रदत्त जब अपने पुत्र सुकुमाल का मुख देखते ही संन्यासी होकर बनवासी हो गये तो सुभद्रा को आशंका हुई कि पिता की तरह उसका पुत्र भी कहीं साधु न

बन जाय? वह नहीं चाहती थी कि मेरा बेटा भी साधु बने। जबकि उसी भविष्यवाणी के अनुसार मुनि यशोभद्र की वाणी सुनते ही सुकुमाल का साधु हो जाना भी निश्चित था, पर पुत्रव्यामोह में उसकी माँ सुभद्रा को उस भविष्यवाणी पर पूरा विश्वास नहीं हो पा रहा था। वह संशय के झूले में झूल रही थी। इस कारण वह अपने इकलौते पुत्र सुकुमाल के प्रति और भी अधिक संशकित हो उठी थी। उसे डर था कि कहीं पिता की परछायीं पुत्र पर भी न पड़ जाये और वह भी साधु बनकर कहीं उन्हीं की राह पर न चला जाये? उसके बारे में की गई भविष्यवाणी भी सही न हो जाये?

सुभद्रा का सोचना ठीक ही था, उसकी चिन्ता भी स्वाभाविक ही थी, क्योंकि दूध का जला छाछ को भी फूंक-फूंक कर पीता है। अतः उसने सुकुमाल को साधु-संतों के प्रभाव से बचाये रखने के लिए भी अनेक उपाय किए।

अपने सभी पहरेदारों को पूर्ण सावधान करते हुए कठोर आदेश दिए। ''ध्यान रहे, किसी भी साधु का इस महल के आस-पास आवागमन न हो।'' स्वयं ने भी साधुओं को आहार के लिए पड़गाहन करना, आमंत्रित करना सर्वथा बंद कर दिया। दूर-दूर तक महल के चारों ओर भी कड़ा पहरा लगा दिया, ताकि कोई साधु उस मुहल्ले में ही न आ सके।

पर होनहार तो कुछ और ही थी, तदनुसार सारे कारण-कलाप मिलते चले गये। सुभद्रा के द्वारा की गई इस कार्यवाही के पहले से ही उसी के सगे भाई मुनिराज यशोभद्र उसके महल की सीमा से थोड़ी दूरी पर एक उपवन में ठहरे हुए थे। तथा उन्होंने वहीं पर अपना चातुर्मास भी स्थापित कर लिया था। सुभद्रा के न चाहते हुए भी यह सब उसके अनजाने में सहज हो गया था।

जब सुभद्रा को यह ध्यान आया कि अरे! मुनिराज यशोभद्र का चौमासा तो इसी नगर में हो रहा है, और वह भी महल के पीछे के उपवन में ही। इससे वह घबड़ा गई, चिन्तित हो उठी और दौड़ी-दौड़ी उनके

पास पहुँची। मुनिराज की वंदना कर नारी की मर्यादा के अनुसार उनसे सात हाथ दूर बैठ गई। जैसे ही मुनिराज की प्रश्नसूचक दृष्टि उसकी ओर मुड़ी तो उसने कहा - स्वामिन्! आप तो स्वयं निमित्तज्ञानी हैं, भविष्यद्रष्टा हैं, और माँ की ममता को भी आप अच्छी तरह जानते हैं। कहीं ऐसा न हो कि मैं पति की तरह पुत्र को भी खो बैठूँ?

मेरे पतिदेव सेठ सुरेन्द्रदत्त तो संन्यासी बनकर वनवासी हो ही गये हैं। उनके वियोग का मुझे अपार दुःख है, पर पुत्रानुराग वश पुत्र के सहारे पतिदेव के वियोगजनित असह्य दुःख को तो मैंने जैसे-तैसे सह लिया, परन्तु पुत्र के वियोग का दुःख मैं न सह सकूँगी। अतः आप मुझ दुःखिनी पर इतनी कृपा अवश्य करें कि आपके उपदेश या श्लोक पाठ आदि की आवाज मेरे महल तक न पहुँचे।

निमित्त ज्ञानियों के कथनानुसार जिस दिन मेरे पुत्र के कान में किसी भी साधु के वचन पड़ जायेंगे, उसी दिन वह विरागी होकर वनवासी बन जायेगा।

हे स्वामी! आप भी अपने दिव्यज्ञान में यह अच्छी तरह जानते हैं कि मेरा पुत्र अत्यन्त सुकुमार है। वह रत्नों की ज्योति में तो रहता है, कमल पुष्पों से सुगंधित तंदुलों का सरस भोजन करता है, मखमल पर चलता-फिरता है, उसे सूर्य का प्रकाश सुहाता नहीं, रूखा-सूखा भोजन भाता नहीं, राई के दाने जैसे सूक्ष्म रजकण भी उसके चरणों में चुभते हैं। भला ऐसा सुकुमार बालक वनवासी होकर साधु-जीवन की कठोर साधना कैसे कर पायेगा? नंगे पाँव कंटकाकीर्ण ऊबड़-खाबड़ मार्गों पर कैसे गमन कर सकेगा? सर्दी, गर्मी एवं भूख-प्यास की असह्य वेदना कैसे सहेगा? भयंकर उपसर्गों को कैसे झेल सकेगा? खून के प्यासे डांस-मच्छर और मांसभक्षी हिंसक पशुओं के प्राणलेवा उपद्रवों का सामना कैसे कर सकेगा? और मैं भी उसके वियोगजनित दुःख को सहने की शक्ति कहाँ से लाऊँगी?

हे स्वामिन! मैं उसके मोह में पागल हो जाऊँगी। मुझमें उसके वियोग को सहने की शक्ति नहीं है। अतः मेरी यही एकमात्र विनम्र प्रार्थना है कि

कृपया आप अत्यन्त मंदस्वर में पठन-पाठन एवं उपदेश करें ताकि आपकी आवाज उसके कानों तक न पहुँचे।

मुनिराज यशोभद्र को सुभद्रा के विचित्र पुत्रव्यामोह पर एवं संसारी प्राणियों की कारुणिक दशा पर मन ही मन हंसी भी आई और करुणाभाव के कारण दुःख भी हुआ।

वे उसे कुछ आश्वासन दें अथवा समझायें - ऐसी स्थिति में नहीं थे; क्योंकि उन्हें अपने निमित्तज्ञान में स्पष्ट प्रतिभासित हो रहा था कि अब सुकुमार की आयु अत्यल्प रह गई है। और उसे अल्पकाल में ही मेरे ही निमित्त से वैराग्य होनेवाला है तथा उसे आत्मसाधना का अपूर्व पुरुषार्थ करना है। साथ ही उसे अपने दुहरे व्यक्तित्व का परिचय देकर इतिहास में अपना नाम भी अमर करना है, पुराण पुरुष बनना है, अतः वे चुप रहे।

महान आत्माओं के विषय में यह उक्ति प्रसिद्ध है कि -

'वज्रादपि कठोरानि, मृदूनि कुसुमादपि'

वे जहाँ पुष्प के समान कोमल होते हैं, वहीं वज्र के समान कठोर भी होते हैं।

सुकुमाल की भी यही स्थिति थी। वे बाहर से जितने सुकुमार थे, अन्दर से उतने ही कठोर भी थे; जैसा कि उनके अंतिम जीवन से स्पष्ट हो चुका है। पर मोही प्राणियों की समझ में यह बात नहीं आ सकती; अतः यशोभद्र मुनिराज ने सुभद्रा से कुछ नहीं कहा।

अपनी प्रार्थना के उत्तर की प्रतीक्षा करते-करते जब सुभद्रा निराश हो गई तो उसका शंकालु मन और अधिक संशकित व खेद-खिन्न हो गया। घर आते ही उसने अपने पहरों की व्यवस्था और भी अधिक सुदृढ़ कर दी।

पर होनहार को कौन टाल सकता था? जब जो होना होता है, वह तो होकर ही रहता है। सारे समवाय या कारणकलाप वैसे ही मिलते चले जाते हैं।

साधारण मनुष्य तो क्या, असीम शक्ति संपन्न इंद्र एवं अनंतबल के धनी जिनेन्द्र भी उसमें कुछ फेरफार नहीं कर सकते।

शारीरिक दृष्टि से अत्यन्त सुकुमार होते हुए भी सेठ पुत्र सुकुमाल में मनोबल एवं आत्मबल अद्‌भुत था। जहाँ उन्हें बाल्यावस्था में सूर्य का प्रकाश नहीं सुहाता था, जो रत्नों की ज्योति में ही रहा करते थे, जिन्हें पाँवों में राई के दाने चुभते थे; वही मुनि अवस्था में उन्होंने जैसी - जो कठोर साधना की, उसकी इतिहास व पुराणों में कोई मिसाल नहीं मिलती।

अपने पूर्वभव - वायुभूत की पर्याय में छोटे से वटबीज की तरह वैरभाव का ऐसा बीज बो दिया था, जो दिखने में भले छोटा था, पर उसका फल सुकुमाल को अपनी मुनिदशा में वटवृक्ष की भाँति बहुत बड़े उपसर्ग के रूप में भोगना पड़ा।

पुराणों से पता चलता है कि महामुनि सुकुमाल अपनी भूतपूर्व-वायुभूत की पर्याय में यौवनावस्था तक अनपढ़ रहे। वे न केवल अनपढ़ थे, बल्कि स्वभाव से क्रोधी व कृतघ्नी भी थे। इनके एक भाई और थे उनका नाम था अग्निभूत। अग्निभूत बड़े थे और वायुभूत छोटे। संयोग से बचपन में दोनों ही अनपढ़ रह गये।

यद्यपि इनके पिता राजपुरोहित थे और उनका राज्य में अच्छा सम्मान था तथा उत्तराधिकार में राजपुरोहित का पद उनके इन्हीं बेटों को मिलता, पर लाड़-प्यार में दोनों बालकों के अनपढ़ रह जाने से वह पद उन्हें नहीं मिल सका। इसकारण वे दोनों आजीविका से भ्रष्ट होकर मारे-मारे फिरने लगे।

उनकी यह स्थिति देखकर उनकी माँ ने उन्हें अपने भाई के पास पढ़ने भेजा। मामा के पास पहुँचकर दोनों भाईयों ने उन्हें माँ का संदेश सुनाया और अपने आने का उद्देश्य बताया।

मामा यशोभद्र ने एक क्षण विचार करके कहा - तुम्हारी माँ ने यह कहकर भेजा सो तो ठीक है, पर मेरी तो कोई सगी बहिन ही नहीं थी, तो

तुम मेरे भानजे कैसे हो सकते हो? फिर भी जब तुम आ ही गये और पढ़ना चाहते हो तो मैं तुम्हें पढ़ा दूँगा, पर तुम्हारे खाने-पीने की व्यवस्था तुम्हें स्वयं भिक्षावृत्ति से करनी पड़ेगी तथा मेरी आज्ञा का अक्षरशः पालन करना होगा।

यद्यपि उनके मामा यशोभद्र को किसी भी विद्याप्रेमी शिष्य को अपने पास रखने में कोई असुविधा नहीं थी, फिर सगे भानजों को अपने पास न रखने का तो प्रश्न ही क्या था? और वह भी पढ़ाने के लिए। जैसे अपने बेटे वैसे ही बहिन के बेटे; पर यशोभद्र को यह भली-भाँति पता था कि ये दोनों माता-पिता के लाड़-प्यार में ही बिगड़े हैं। अतः उन्होंने सोचा - ''माँ-बाप की डाँट-डपट तो बेटे एकबार सह भी ले पर मामा का रिश्ता तो बहुत ही नाजुक होता है। माँ से मामा में द्विगुणित स्नेह की मात्रा होती है। देखो न! 'मामा' शब्द में ही दो माँ हैं न?अतः उन्हें पढ़ाने के लिए कुछ दिनों को मुझे मामा का ममत्व तो त्यागना ही होगा।''

यह सोचकर उन्होंने निर्मम होकर कहा - ''सोच लो भाई! तुम चाहोगे तो मैं मात्र पढ़ाने की व्यवस्था कर सकता हूँ, भोजन आदि की व्यवस्था तुम्हें स्वयं भिक्षावृत्ति से करनी होगी।''

अग्निभूत व वायुभूत बहुत परेशान थे, अतः उन्होंने गुरुजी की सब शर्तें स्वीकार करली और अध्ययन करने लगे।

जब वे पढ़-लिखकर अपनी पुरोहिताई विद्या में निपुण हो गये और गुरु से विदाई लेकर घर वापिस जाने लगे तो गुरुजी ने अपने दीक्षांत भाषण में रिश्ते का असली रहस्य उद्घाटित करते हुए उनसे कहा कि - ''संभवतः अब तुम समझ गये होगे कि उस समय मैंने तुम्हें अपना भानजा मानने से क्यों इंकार किया था? बहुत कुछ संभव था कि जिस कारण तुम माता-पिता के पास नहीं पढ़ सके, उन्हीं कारणों से यहाँ भी पढ़ने से वंचित रह जाते।''

यह बात सुनकर बड़े भाई अग्निभूत ने तो गुरु मामा का बहुत भारी उपकार माना और कृतज्ञता का भाव प्रगट किया; पर वायुभूत जो स्वभाव

से ही अहंकारी, दुष्ट व कृतघ्नी था, उसने उपकार न मानकर उल्टा क्रोध प्रगट किया और नाराज होकर वहाँ से घर चला गया।

वायुभूत ने अपने दुराचार के कारण अल्पायु के साथ थोड़े ही काल में कूकरी, सूकरी व चंडालनी आदि की नाना योनियों में जन्म-मरण के दुःख उठाते हुए नागशर्मा ब्राह्मण के यहाँ नागश्री नामक कन्या के रूप में जन्म लिया और वहाँ जैन साधु के संपर्क में आने से उसका जीवन सुधरना प्रारंभ हुआ।

वायुभूत की पयार्य में नागश्री के जीव ने जिन मामा (गुरु) यशोभद्र से विद्यार्जन की थी, संयोग से नागश्री की दिगम्बर साधु के रूप में उन्हीं से पुनः भेंट हो गई। नागश्री को देखते ही यशोभद्र मुनि ने अपने निमित्त ज्ञान से उसके पूर्व भव जान लिए और करुणा कर उसे भेदज्ञान कराने के साथ पंचाणुव्रत भी दे दिये। जिनका उसने दृढ़ता से पालन करते हुए पाप कर्मों का क्षय किया और वही नागश्री का जीव आगे चलकर सुकुमाल हुई।

इस तरह हम देखते हैं कि यशोभद्र मुनि ने वायुभूत की पर्याय से लेकर सुकुमाल की पर्याय तक इस जीव को तीन-तीन बार ज्ञानदान देकर सन्मार्ग पर लगाया। सो ठीक ही है जिसकी होनहार भली होती है उसे निमित्त तो मिल ही जाते हैं।

-- -- --

अग्निभूत भरे यौवन से मुनि हो गये तो उनकी पत्नी का उनके वियोग में दुःखी होना स्वाभाविक ही था। मोह की महिमा ही कुछ ऐसी है उसके कारण अज्ञानी जीवों को अपने हित-अहित का कुछ भी विवेक नहीं रहता।

मोही जीवों को किसी कार्य के असली कारण का पता तो होता नहीं है। वे तो निमित्तों पर ही दोषारोपण किया करते हैं और बिना कारण उन पर राग-द्वेष किया करते हैं।

यही स्थिति अग्निभूत की पत्नी की थी। वह अपने पति के संन्यासी होने का कारण अपने देवर वायुभूत को मान रही थी। अतः वह वायुभूत

पर दोषारोपण करके उसे कोसा करती थी। वायुभूत भी क्रोधी प्रकृति का तो था ही, अभिमानी भी बहुत था। विवेक तो उसमें नाममात्र को भी नहीं था। भला वह भाभी के मिथ्या दोषारोपण को कैसे बर्दाश्त कर सकता था? उसने भी ईंट का जवाब पत्थर से देने की ठान ली और एक दिन क्रोध से आग-बूबला होकर उसे नाना प्रकार से अपमानित करते हुए उसके मुँह पर लात दे मारी।

अबला होने से वह भाभी उस समय तो कुछ भी प्रतिकार नहीं कर पायी, पर उसे क्रोध तो बहुत आया। उसने मन ही मन संकल्प किया कि 'मैं इस अपमान का बदला लेकर ही रहूँगी।'

उसका वह क्रोध अंदर ही अंदर अन्तर्मन में पड़ा-पड़ा धीरे-धीरे बैर में बदल गया। संक्लेश परिणामों के साथ कु-मरण करने के कारण वह भाभी का जीव नाना निकृष्ट योनियों में जन्म-मरण करता रहा। भली होनहारवश जब वायुभूत का जीव सेठपुत्र सुकुमाल के रूप में मनुष्य पर्याय में आया तब उसी समय वायुभूत की भाभी का जीव उसी जंगल में सियारनी की पर्याय में जा पहुँचा। सियारनी मांसाहारी पशु होने से स्वभावतः मांसाहारी तो थी ही, फिर मनुष्य का मांस तो पशुओं को और भी अधिक प्रिय होता है। जब सेठ पुत्र सुकुमाल मुनि बनकर जंगल के कांटों-कंकड़ों से भरे रास्ते में जा रहे थे तो उनके कोमल पावों में कंकड़ चुभने से खून बहने लगा। रास्ते में पड़े उस खून को चाटते-चाटते वह सियारनी अपने बच्चों सहित वहाँ जा पहुँची, जहाँ महामुनि सुकुमाल ध्यानस्थ हो गये थे। उन्हें देखते ही पूर्वभव के बैर के दृढ़ संस्कारवश उस सियारनी को उनके प्रति अनजाने ही द्वेष उमड़ आया और उसने निर्दयतापूर्वक धीरे-धीरे तीन दिन तक उन्हें नोच-नोच कर खाया, फिर भी मुनि सुकुमाल सुमेरु की तरह अडिग रहे और आत्मा का ध्यान करते-करते समाधिमरणपूर्वक देह विसर्जित करके सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए।

-- -- --

कहाँ तो महान तपस्वी, महान उपसर्गजयी, धैर्य के धनी, धीर-वीर महानमुनि सुकुमाल का परम उत्कृष्ट जीवन और कहाँ महाक्रोधी, महाकृतघ्नी, महामानी, अनपढ़ वायुभूत का महानिकृष्ट जीवन। एक ही जीव की भिन्न-भिन्न दो दशाओं में जमीन-आसमान जैसा कितना व कैसा महान अन्तर!

पर यह कोई असंभव बात नहीं है। और भी ऐसे उदाहरण पुराणों में पाये जाते हैं। महावीर और मारीचि को ही देख लीजिए न! जो मारीचि की पर्याय में महा मिथ्यादृष्टि था, तीर्थंकरत्व का घोर विरोधी था, वही महावीर की पर्याय में आकर स्वयं साक्षात् धर्मतीर्थ प्रवर्तक तीर्थंकर बन गया. यह है परिणामों की विचित्रता।

जीवों के परिणामों की इस विचित्रता के संबंध में कविवर भागचन्दजी ने ठीक ही कहा है -

''जीवन के परिणमन की अति विचित्रता देखहू प्राणी।
नित्य निगोद माँहि से कढ़िकर, नर पर्याय पाय सुखदानी।।
समकित लहि अन्तर्मूहूर्त में केवल पाय वरी शिवरानी।।

कहाँ तो नित्यनिगोद की अत्यन्त मूर्छित दयनीय दशा और कहाँ मनुष्य पर्याय की उत्कृष्टता? उसमें भी सम्यग्दर्शन की जागृत दशा; न केवल सम्यग्दर्शन, बल्कि केवलज्ञान और मुक्ति दशा की प्राप्ति भी।''

ऐसी स्थिति में यदि वायुभूत के जीव ने अपनी आत्मोन्नति करके महामुनि सुकुमाल जैसी परम पवित्र पर्याय प्राप्त कर ली तो उसमें भी कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

इसलिए तो कहते हैं कि - जब समय आ जाता है तो सुलटते देर नहीं लगती। अतः वर्तमान पर्याय के परिणामों के कारण किसी को सर्वथा बुरा या भला मान लेना उचित नहीं है तथा स्वयं अपनी वर्तमान दशा को उन्नत या अवनत देखकर अभिमान या निराश होना भी योग्य नहीं है। परिस्थितियों के बनते बिगड़ते देर नहीं लगती। आज का पशु कल परमात्मा बन सकता है। अतः किसी का अनादर या उपेक्षा करना भी उचित नहीं है।

भला उस समय कौन जानता था कि यही वायुभूत आगे चलकर महामुनि सुकुमाल बनेंगे और साधु परमेष्ठी में सम्मिलित होकर जगत पूज्य हो जायेंगे?

-- -- --

वस्तुतः संसार में संसरण करने वाले, भव-भ्रमण करने वाले सभी जीव भूले भगवान हैं। अपने उस भगवत स्वभाव को न जानने-पहचानने रूप भूल मूल में हो रही है। इसी भूल का दूसरा नाम तो संसार है। जब तक यह जीव अपनी भगवत्ता को नहीं जानेगा, पहचानेगा; तब तक जन्म-मरण का अभाव नहीं हो सकता। इस दृष्टि से अपने आत्मस्वरूप को न जानना, न पहचानना कोई साधारण भूल नहीं है, क्योंकि साधारण मूल की इतनी बड़ी सजा नहीं हो सकती।

जगत में जो हम जन्म-मरण कर रहे हैं, दुःख भोग रहे हैं, वे सब इसी मूल में हो रही भूल के कारण ही तो भोग रहे हैं। सभी अपने स्वभाव को भूले हुए हैं। पर यह बात हम संसारी प्राणियों को समझ में अभी तक नहीं आई। हम अब तक इन दुःखों के कारणों की खोज बाह्य जगत में ही करते रहे हैं, जबकि भूल अपने अन्दर ही है।

यदि हम अपनी यह भूल स्वीकार कर लें तो फिर हम संसार में संसरण करें ही क्यों?

जिसप्रकार पागलखाने में रहने वाला कोई भी पागल अपने को पागल नहीं मानता, उसीप्रकार कोई भी संसारी प्राणी अपने को भूला हुआ नहीं मानता। यही तो हमारी सबसे बड़ी भूल है, सबसे बड़ा पागलपन है।

पर, सौभाग्य यह है कि वह भूल केवल अपनी एक समय की पर्याय में ही हुई है, त्रिकाली आत्मद्रव्य में नहीं। भगवान आत्मतत्त्व तो सदा निर्भूल स्वभावी ही है और उस निर्भूलस्वभावी आत्मा या कारणपरमात्मा का आश्रय लेते ही, उस पर दृष्टि डालते ही हमारी (अज्ञानी जीवों की)

यह अनादिकालीन भूल मिट जाती है। अतः इस दिशा में हमें सदैव सक्रिय रहना चाहिए।

यह तो हुई बहुत बड़ी भूल की बात, पर हम तो इतने लापरवाह हैं कि सामान्य-सी छोटी-मोटी भूलों की भी परवाह नहीं करते। कभी-कभी सामान्य-सी दिखने वाली भूल भी या जरा सी नासमझी भी कैसे तिल का ताड़ या राई का पहाड़ बन जाती है, यह हम सोच भी नहीं सकते। अतः हमें कोई भी छोटा-बड़ा काम करने के पहले उसके पूर्वापर परिणाम पर दूरदृष्टि से विचार अवश्य कर लेना चाहिए।

किसी कवि ने ठीक ही कहा है :-

''छोटा बड़ा कुछ काम कीजे, परन्तु पूर्वापर सोच लीजे।
बिना विचारे यदि काम होगा, अच्छा न उसका परिणाम होगा''

यदि यह देखना हो कि - राग-द्वेष वश की गई छोटी-सी भूल का कितना भयंकर परिणाम हो सकता है तो यह भी हम उपसर्गजयी उन्हीं महामुनि सुकुमाल के पूर्वभव की उस छोटी-सी घटना में देख सकते हैं, जिसमें उन्होंने सामान्य-सी नासमझी में भी अपनी भाभी को लात मारकर की थी। उसीका फल उन्हें इतने बड़े प्राणघातक उपसर्ग के रूप में भोगना पड़ा।

कवि सूरचंदकृत वृहत समाधिमरण पाठ में भी उनका इसीप्रकार का उल्लेख आया है। वहाँ लिखा है -

''धन्य-धन्य सुकुमाल महामुनि कैसे धीरजधारी।
एक श्यालनी जुग वच्चाजुत, पाँव भख्यो दुःख भारी।।
यह उपसर्गसह्योधरथिरता आराधन सुखकारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु महोत्सव भारी।।''

एक नहीं, ऐसे अनेक उपसर्गजयी साधुओं को इस रूप में स्मरण किया गया कि उन्होंने बड़े-बड़े भयंकर दुःख सहे हैं। हमें-तुम्हें तो उनकी तुलना में कुछ भी कष्ट नहीं है। अतः हमें भी उनसे प्रेरणा लेकर आये दुःख को अपनी ही भूल का फल या अपने उदय का परिणाम समझकर

धैर्य से सहन करना सीखना चाहिए। ताकि पूर्वबद्ध कर्म खिर जावें और नवीन कर्मबंध न हो।''

यह ज्ञानपरक चर्चा सुनकर विवेकी बहुत प्रसन्न हुआ तथा और भी जो उपसर्ग विजेता समाधि में सफल रहे, उनके बारे में भी जानने की जिज्ञासा प्रगट की, परन्तु उस समय मुझे फुर्सत भी नहीं थी और वे भी घर वापिस जाने की जल्दी में थे। अतः मैंने उन्हें अन्य पुराण प्रसिद्ध सुकौशल, राजकुमार, सनतकुमार, पाँचों पांडव आदि अनेक महान उपसर्गजयी मुनिराजों का नामोल्लेख करते हुए इनके जीवनचरित्रों एवं पुराणों को पढ़ने की प्रेरणा देकर उस दिन के अन्तिम वक्तव्य से विराम ले लिया।

सदासुखी व विवेकी अपनी मित्र-मण्डली के साथ अपने घर वापिस चले तो गये, पर उनके आये दिन आने वाले पत्रों से ऐसा लगता था कि उनके जीवन में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो रहा है।

प्रथम पत्र में ही उन्होंने लिखा ता कि उन्होंने घर पहुँचते ही उन सभी समाधि साधक महान तपस्वियों के जीवन चरित्रों को आद्योपांत पढ़ लिया है, जिनको पढ़ने की प्रेरणा मैंने दी थी। यह जानकर मुझे भारी प्रसन्नता हुई, मेरे हर्ष का ठिकाना न रहा। मैंने भावना भायी सभी जीव इसी प्रकार सन्मार्ग में लगाकर अपना कल्याण करें। ●

जीना सीखाने की कला

मैं एक शाश्वत सत्य हूँ, ध्रुव-धाम हूँ चैतन्यमय।
मैं हूँ अनादि-अनंत जब, तब क्यों सतावे मृत्यु भय।।
बोधि-समाधि द्वार है, निजरूप पाने की कला।
संन्यास और समाधि है, जीना सीखाने की कला।।

– रतनचंद भारिल्ल

१६

स्त्री-पुरुष-कुटुम्ब-परिवार के प्रति हुआ अनुराग तो दुःखद होता ही है, पर धर्मानुराग भी कम कष्टकारक नहीं होता।

सदासुखी व विवेकी से मेरा धर्मानुराग के सिवाय और संबंध ही क्या था? कुछ भी नहीं। पर, जब से सदासुखी की चिट्ठी से विवेकी के बीमार होने का समाचार ज्ञात हुआ, तभी से पता नहीं क्यों, मेरा मन भारी-भारी हो गया। मैं स्वयं को सहज व सामान्य स्थिति में नहीं रख पाया।

साधर्मी वात्सल्य में भी इतना गहरा आघात लग सकता है, इसका मुझे उस दिन पहली बार अनुभव हुआ।

सदासुखी का पत्र पढ़ते-पढ़ते पहले तो मैं उसकी याद में ऐसा खो गया कि अन्य कुछ सुध-बुध ही न रही। फिर उसके विषय में मन ही मन अन्तर्जल्प करते-करते पता नहीं कब/कैसे मैं जोर-जोर से बोलने लगा, ऊँची आवाज में कहने लगा कि - ''सर्वज्ञ भगवान के सिवाय कोई नहीं जानता कि - किसको/कब/क्या हो जाए? बेचारा यहाँ से भला-चंगा गया था। अभी उसे गये पूरे दो सप्ताह भी नहीं हुए कि यह अनर्थ हो गया।''

अन्दर से मेरी श्रीमतीजी की आवाज आई - ''अरे! वहाँ अकेले बैठे-बैठे किससे-क्या कह रहे हो? इतने जोर-जोर से क्या दीवारों से बातें कर रहे हो? अरे! किसको/क्या हो गया? मैं भी तो सुनूं! किसके बारे में कह रहे हो? मेरे भैया को तो नहीं हो गया कुछ? ले-देकर एक ही तो मेरा भाई है और वह भी .....। खैर! जैसा भी है .....।'' कहते-कहते उसका गला भर आया और आँखों में आँसू झलक आए।

मैंने कहा – ''नहीं, महाभाग! दुःखी न होइए। तुम्हारे प्यारे भाई को कुछ नहीं हुआ, उसे हो भी क्या सकता है? लोगों की मौत जिसकी मुट्ठी में हो, वह जब/जिसको मृत्युलोक भेजना चाहे भेज सकता हो, भला उसको क्या हो सकता है? उसकी बड़बोली बातों से तो ऐसा लगता है मानो वह अमरता का पट्टा लिखाकर ही आया है। पर ध्यान रहे, इस संसार में अमर भी अमर नहीं होते। एक न एक दिन तो उन्हें भी भगवान का प्यारा होना ही पड़ता है, मौत के शिकंजे से कोई नहीं बच सकता।

अरे! यहाँ आँसू बहाने के बजाय एक बार वहाँ जाकर उस भले आदमी से कहो कि कभी भूले-भटके भगवान का नाम तो ले ही लिया करे। उसके लिए तो आजकल पैसा ही परमेश्वर बन बैठा है। दिन-रात पेट के नाम पर पेटी भरने के चक्कर में ही पड़ा रहता है। न नीति-अनीति का ख्याल, न सच-झूठ का ठिकाना। नेतागिरी के नाम पर दादागिरी करता है, सो अलग। दया नाम की वस्तु तो उसके पास है ही नहीं।

शायद वह समझता है, उसकी दादागिरी से यमराज भी डर जाएगा, पर ऐसा नहीं होगा। जिस दिन मौत का पैगाम आ जाएगा, यह सब कुछ यही ऐसे ही छोड़कर सदा-सदा के लिए चला जाना होगा। केवल भली-बुरी करनी ही उसके साथ जाएगी। जिसका नतीजा नरक निगोद में जाकर भोगना पड़ेगा। अतः उसे समझाओ कि वह इन सब धंधों को छोड़कर थोड़ा धरम-करम में ध्यान लगाए।

पैसे की क्या कमी है उसके पास? पर वह आदत से मजबूर है। जितना वह ऊपर से धौला (सफेद) रहता है, उतना ही अन्दर से काला है। उसने तो गाँधी टोपी को कलंकित ही कर दिया है। उसने राजनैतिक नेतागिरी के नाम पर दादागिरी की दुकान चला रखी है।''

पत्नी पुनः बोली : ''तुम उसके लिए इतने परेशान न हुआ करो। वह इस जनम में तो सुधर नहीं सकता। क्या तुम्हें पता नहीं, पिताजी

उसको समझा-समझा कर कैसे थक गए थे, पर उसने उनकी भी कहाँ सुनी?

तुम एक ओर तो सबको यह समझाते-समझाते नहीं थकते कि – कोई किसी का भला-बुरा नहीं कर सकता और दूसरी ओर भला करने का इतना तीव्र विकल्प? अरे ! छोड़ो भी उस नालायक की चर्चाएँ। मुझे तो उसकी चर्चा से भी चिढ़ होने लगी है।''

मैंने कहा – ''भागवान! तुम्हारे उस इकलौते भैया की चर्चा मैंने छेड़ी थी या तुमने? तुम्हीं तो मेरी धूमिल स्मृति के घावों को हरा-भरा करती हो और जब मेरा मन भड़क उठता है तो तुम ही उसकी चर्चा छोड़ने को कहने लगती हो। ठीक है, छोड़ देता हूँ, पर क्या करूँ, अपनापन होने से कभी-कभी यह विकल्प आ जाता है कि – काश! वह सन्मार्ग पर आ जाता तो उसका मानव जीवन सार्थक हो जाता।''

पत्नी भावुक होकर बोली – ''आप ठीक कहते हो, राग का स्वरूप ही कुछ ऐसा है जो आप जैसे ज्ञानियों को भी कभी-कभी विचलित कर देता है तो हम तो बिसात ही क्या हैं? बहिन होने के नाते मुझे भी कभी-कभी उसका राग बहुत ही परेशान कर देता है, मेरी तो कई रातें उसके विकल्प में खराब हो जातीं हैं, रात-रात भर नींद नहीं आती। यह कहते-कहते पत्नी की आँखें डबडबा आईं।''

आँसू पोंछते हुए उसने कहा – ''एक बार आपने यह भी तो कहा था कि जो कुकर्म करने में जितना शूरवीर-दुस्साहसी होता है, यदि वह सुलट जावे तो धर्म के क्षेत्र में भी वह वैसा ही शूरवीरपना दिखा सकता है, धर्म के क्षेत्र में भी उतना ही सफल सिद्ध हो सकता है।

संभव है आपका विकल्प कभी सार्थक हो जावे और यह भी हो सकता है कि उसका भविष्य उज्ज्वल बनना हो, इसी कारण आपको उसके प्रति ऐसी करुणा आती हो। मैं तो यही कामना करती हूँ कि आपका विकल्प सार्थक हो जावे।''

आगे बात बदलते हुए उसने पूछा – ''किसका पत्र है और उसमें क्या लिखा है? किसको क्या हो गया है। जिसकी चिन्ता में तुम इतने भावुक हो उठे? सौभाग्य से अब तुम्हें घर-परिवार की कोई चिन्ता नहीं रही तो जगत का भला करने की धुन सवार हो गई और वह भी इस स्तर पर कि नींद ही हराम हो जाये। **मियांजी यों ही शहर के अंदेशे में दुबले हुए जा रहे हैं,** यह बात अपनी समझ में नहीं आती। भला यह भी कोई बात हुई?

मैंने उसकी पहली बात की सुनी-अनसुनी करते हुए उसके दूसरे प्रश्न के उत्तर में कहा – ''विवेकी को पक्षाघात हो गया है, लकवा लग गया है – ऐसा सदासुखी ने अपने पत्र में लिखा है।''

पत्नी ने अफसोस प्रगट करते हुए कहा – ''अरे! यह तो बहुत बुरा हुआ।

बिचारे जाते-जाते कितना कहकर गये थे कि हम शीघ्र ही वापिस आयेंगे।''

मैंने बीच में ही कहा – ''उन बेचारों को क्या पता था कि वे अब कभी वापिस न आने को जा रहे हैं, सदा के लिए विदाई लेकर जा रहे हैं।

पत्नी ने जिज्ञासा प्रगट की – ''अब कैसी हालत है? पक्षाघात का असर कहाँ-कहाँ कितना हुआ है, चलते-फिरते तो हैं न? अपना नित्य-कर्म करने के लिए पराधीन तो नहीं हो गये?

मैंने पत्र पढ़कर सुनाते हुए कहा – ''पक्षाघात का प्रभाव तो संपूर्ण दाहिने अंग पर है, चलना-फिरना, उठना-बैठना तो पूरी तरह बंद है।

बीमारी के कारण विवेकी की शारीरिक स्थिति बहुत खराब हो गई है। मलमूत्र विसर्जित करने में भी भारी कठिनाई होने लगी है। भोजन भी अपने हाथों से नहीं कर पाते। पानी पीने तक में पराधीनता हो गई है। और तो ठीक, मुँह की मक्खियाँ भी अब वे नहीं भगा सकते।

पर, इतना सौभाग्य समझो कि मुँह, कान, आँख व मस्तिष्क पर अधिक असर नहीं आया है। इसकारण सोचने-विचारने, बोलने एवं देखने-सुनने की शक्ति क्षीण नहीं हुई है।''

यह समाचार सुनाते हुए और विवेकी को देखने के लिए जाने की भूमिका बनाते हुए मैंने अपनी धर्मपत्नी से कहा – ''धर्मप्रेमियों को जितना प्रेम अपने विषय-कषाय व स्वार्थ के साथी स्त्री-पुत्र व कुटुम्ब-परिवार से होता है, और जितना प्रेम साधर्मीजनों से होता है, उससे भी कई गुना अधिक प्रेम धर्मायतनों से – देव-शास्त्र-गुरु तथा जिनबिम्ब, जिनालय व धर्मतीर्थों से होता है; तथा जितना प्रेम धर्मायतनों, धर्म के साधनों से होता है; उससे भी कई गुना अधिक प्रेम धर्म से – ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा से, शुद्धात्मा या कारण परमात्मा से होता है।

यदि ऐसा हो तो ही उसका धर्मप्रेम सच्चा मानना चाहिए, अन्यथा उसमें सच्चा धर्मप्रेम नहीं है – ऐसा ही माना जायेगा।''

इस बात को सुनकर पत्नी मेरी भावना को भाँप गई। वह समझ गई कि मैं लंबी-चौड़ी भूमिका क्यों बना रहा हूँ? अतः वह बड़े ही विनम्र भाव से सहानुभूति प्रगट करते हुए बोली – ''आप विवेकी को संबोधनार्थ उनके घर अवश्य जाइए। ऐसे समय में नहीं जाओगे तो कब जाओगे? मैं भी आपके साथ चलूँगी; क्योंकि ऐसे संकट के समय अपने ठहरने, खाने-पीने और आतिथ्य का भार उन पर डालना उचित नहीं है। मैं आपको तो संभालूँगी ही, यथासंभव विवेकी की सेवा टहल करने में भी सहयोग करूँगी। क्या पता उनके परिवार वाले कितना समय निकाल पाते होंगे? आखिर यही एक काम थोड़े ही है उनके सामने! और भी न जाने क्या-क्या समस्यायें होंगी।''

मैं उसकी इस समझदारी पर आश्चर्यचकित था। मेरी भावभंगिमा को देखकर वह पुनः बोली – ''ऐसे क्या देख रहे हो? मैं ठीक ही तो कह रही हूँ, ऐसे मौके पर मैं मजाक नहीं करती। चलो! उठो! तैयारी करो!

कल्पना करो, कदाचित् मेरे भाई के संबंध में ही ऐसा कोई समाचार मिलता तो हम लोग दौड़े-दौड़े जाते या नहीं?''

मैंने कहा - ''महाभाग! जाते, अवश्य जाते, वहाँ नहीं जाते तो फिर रहते कहाँ! मुझे अभी इस घर में बहुत दिनों रहना है, अतः ऐसी गलती तो मैं कैसे कर सकता था?''

वह बोली - ''तुम तो सदा मुझसे ठिठोलियाँ ही करते रहते हो। अरे! मैं तो यह कह रही हूँ कि गृहस्थ अवस्था में मेरे भाई जैसे सात व्यसनियों, अधर्मियों और पापियों के साथ भी तो व्यवहार निभाना पड़ता है, जिन्हें हम से मिलने का कोई हर्ष नहीं होता और जिनके हृदय में हमारे प्रति कोई आदर - सम्मान भी नहीं होता, फिर वे लोग तो हमारे साधर्मी ठहरे!

साधर्मीजनों की खोज-खबर लेना एवं उनका तन-मन-धन से सहयोग करना तो हमारा परम कर्तव्य है। फिर वह तो हमारा शिष्य एवं अनन्य मित्र भी है। जब हम विवेकी से मिलेंगे तो उन्हें कितनी खुशी होगी। आधा दुःख तो उनका वैसे ही दूर हो जायेगा। अतः हमें आज ही चलने की तैयारी कर लेना चाहिए; ताकि उन्हें आपके सान्निध्य का लाभ अधिक से अधिक मिल सके।''

दूसरे दिन जब हम वहाँ पहुँचे तो हमने देखा कि विवेकी एक बहुत ही छोटे अंधेरे कमरे में अकेला पड़ा है, शायद उस कमरे ने कभी सूर्य के प्रकाश के दर्शन तो किए ही नहीं थे। दिन के बारह बजे भी मोमबत्ती या बल्ब से ही एक-दूसरे का मुँह देखा जा सकता था।

एक कोने में स्टूल पर पुराना पंखा रखा था जो केवल अपनी खड़-खड़ की आवाज से अपने अस्तित्व का बोध करा रहा था। पास में एक चौकी पर पानी का लोटा-गिलास रखा था। बाहर दरवाजे पर एक बूढ़ा नौकर बैठा-बैठा सो रहा था, जो उनकी सेवा-सुश्रुषा के लिए होगा। पर वह शायद बहरा था, हमने बहुत आवाज लगाईं, पर उसके कानों पर जूँ तक नहीं रेंगी।

संभवतः पानी का गिलास उठाने की कोशिश में गिलास हाथ से छूट कर टूट गया था, काँच के टुकड़े व पानी अभी भी वहाँ फैला पड़ा था। विवेकी जागते हुए भी सोया सा लग रहा था, मुँह पर मक्खियाँ भिन-भिना रही थीं। वह बिचारा पलक झपकाने और मुस्कुराने के सिवाय और कुछ नहीं कर पा रहा था। हमें देखकर उसकी मुस्कुराहट ने हमारा स्वागत किया, आँखों ने आव-भगत की। हम भी पास में पड़ी एक बेंच पर बैठ गये। उसे देखकर हमारी आँखों से आँसू टपक पड़े। हमारे आँसू देखकर उसकी आँखें भी नम हो गईं; पर उसने कहा - ''अरे! गुरुजी आपकी आँख में पानी!''

मैंने कहा - ''अरे पगले! ये तो तुम जैसे साधर्मीजनों को देखकर प्रेमाश्रु आ गये हैं।

दुखद आँसुओं का क्या काम?''

फिर मैंने पूछा - ''घर-परिवार वाले सब कहाँ गये? क्या यहाँ कोई नहीं है?''

विवेकी का उत्तर था - ''अरे भाई! एक दिन की बात थोड़े ही है, जो सब लोग यहाँ मेरे पास बैठे रहें। आखिर रोजी-रोटी भी तो कमानी है, धंधा-पानी नहीं देखेंगे तो घर-खर्च कैसे चलेगा? बाहर नौकर बैठा है, जरूरत के काम वह करता रहता है।''

मैंने कहा - ''वह तो शायद बहरा है।''

विवेकी बोला - हाँ, भाई। नौकर आजकल मिलते ही कहाँ है?

मेरी पत्नी ने बीच में बात काटते हुए पूछा - ''और बहुएँ-बेटियाँ कहाँ चली गई।''

विवेकी बोला - ''बच्चे तो कॉलेज, स्कूल गये होंगे और बहुएँ विश्राम कर रही होंगी। वे भी बेचारी दिन भर काम करते-करते थक जाती हैं। आखिर शरीर ही तो है, थोड़ा बहुत विश्राम तो माँगता ही है न?''

मैं बैठे-बैठे सोच रहा था ''तत्त्वज्ञान का पूरा लाभ तो इस भले आदमी ने लिया है, इसे किसी में कोई कमी तो दिखाई ही नहीं देती। सच्चे उपगूहन अंग का धारी तो इसे कहते हैं।

यद्यपि यह सत्य है कि विवेकी के परिवारजन उसकी सेवा करने की भावना रखते हैं, पर कोरी सद्भावना व सहानुभूति से थोड़े ही किसी के कष्ट दूर हो जाते हैं। कष्ट कम करने के लिए तो भरपूर सहयोग एवं सेवा की जरूरत होती है। जो उसे बिलकुल नहीं मिल रही है। फिर भी उसके विचार कितने उच्च हैं, कितने उदार हैं, कितना गंभीर है उसका वह चिन्तन!

जब मैंने उसके प्रति अपनाये गये पारिवारिक व्यक्तियों के व्यवहार पर असंतोष प्रगट किया तब उसने उनकी ओर से स्पष्टीकरण करते हुए अपनी जिस महानता का परिचय दिया, वह वस्तुतः जगत को अनुकरणीय है।''

उसने कहा – ''वे भी बेचारे क्या करें? वे मेरी सेवा में कितने भी सजग व सावधान क्यों न रहें? पर मेरी प्रत्येक इच्छा की पूर्ति समय पर कर पाना कोई सहज कार्य तो नहीं है। यदि दस-बीस दिन की बात हो तब तो घर के सब कार्यों को भी गौण किया जा सकता है और चौबीसों घण्टे भी सेवा में खड़ा रहा जा सकता है। पर यह बीमारी ऐसी नहीं है, यह तो अनिश्चितकालीन बीमारी है, लम्बे काल तक चलने वाली बीमारी है, इस कारण परिवारजनों की सेवा करने की हार्दिक भावना होने पर भी सेवा में शिथिलता आना अस्वाभाविक नहीं है।

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि रोगी की परिचर्या सेवा-सुश्रुषा के योग्य साधन सुविधाओं की उपलब्धि-अनुपलब्धि भी तो उसके पुण्य-पाप के उदय पर निर्भर करती है। अतएव भी किसी को दोषी ठहराना उचित नहीं है।

मैं स्वयं ही इस मामले में अधिक भाग्यशाली नहीं हूँ। देखो न! मेरी पत्नी तो मुझे छोड़कर पहले ही स्वर्ग सिधार चुकी है। जहाँ तक बेटे-बहुओं और पोते-पोतियों की बात है, सो भाई! उन बेचारों पर पहले से ही काम का इतना अधिक बोझ है कि वे उससे ही नहीं निबट पाते। मेरी

सेवा में अटकाने का अर्थ है उनके भविष्य को अंधकारमय बना देना, पढ़ाई-लिखाई व आजीविका से वंचित करना। अपनी जरा-सी सुख-सुविधा के लिए भला उन्हें इतने बड़े खतरे में डालना क्या उचित है? बेटों ने नया-नया काम डाला है। इस कारण उस पर उन्हें पूरा-पूरा ध्यान देना अत्यावश्यक है। अतः वे चाहें भी तो मैं स्वयं नहीं चाहूँगा कि वे मेरे पास ही बैठे रहें।

वे बैठकर करेंगे भी क्या? मेरा दुःख तो मुझे ही सहना होगा, वे मेरा दुःख थोड़े ही बाँट लेंगे? और मुझे ऐसा दुःख है भी क्या? अपनी भूल के कारण इससे भी अनन्तगुणे दुःख मैंने अनन्तबार सहे हैं।

यदि वे अपनी व्यावसायिक उन्नति के लिए अथवा अपने ऐशो-आराम के लिए भी मेरी उपेक्षा करते, तब भी मुझे कोई खेद या अफसोस नहीं होता; क्योंकि मैं ऐसा मानता हूँ कि ये लोग तो निमित्त मात्र हैं, मेरा सुख-दुःख तो मेरी करनी का फल है, उससे इनका क्या संबंध? फिर उन्होंने तो अपनी शक्ति या सामर्थ्य के अनुसार नौकर आदि की व्यवस्था तो कर ही रखी है न? अब मेरे भाग्य से नौकर भी अच्छा नहीं मिला, तो इसमें उन बेचारों का क्या दोष?

नौकर दैनिक आवश्यक नित्यकर्म ही तो निबटा सकता है। कभी-कभी तो जब वह घंटों तक को इधर-उधर हो जाता है, तब तो मैं पानी पीने एवं पेशाब करने को भी मुँहताज हो जाता हूँ। देखो न! वह गिलास हाथ से गिरकर टूट गया है। पर वह भी कब तक बाँध कर बैठा रहे? बैठा-बैठा वह ऊब भी तो जाता होगा। इस कारण मेरी आँख झपकते ही वह थोड़ी देर को खिसक जाता है।

पर कोई बात नहीं, यह तो बहुत अच्छा है, घंटे दो घंटे की भूख-प्यास से क्या फर्क पड़ता है? नरकों में ऐसी प्यास व भूख है कि समुद्र भर पानी पीने पर भी प्यास नहीं बुझती और पानी की एक बूँद मिलती नहीं।

तीनों लोकों का संपूर्ण अन्न खाने पर भी भूख नहीं मिट सकती और एक दाना अन्न का मिलता नहीं।

आप जो कमरे में अंधेरे व गर्मी की बात करते हो, डांस-मच्छरों की बात करते हो, सो भाई! इस मकान के लगभग सभी कमरे ऐसे ही हैं, पुराने जमाने का बना है न? हम तो यह सोचकर संतोष रखते हैं कि हम अनेक बार चूहे व साँप बनकर बिलों में भी तो रहे हैं, वहाँ कौन से वेन्टीलेशन या खुली खिड़कियाँ थी। और जब मच्छर काटते हैं तब समाधिमरण पाठ की वे पंक्तियाँ स्मरण कर लेते हैं, जिनमें सुकुमार-गजकुमार आदि अनेक मुनिराजों का उल्लेख किया गया है।

सुख-शान्ति व निराकुलता से रहने का यही एक मात्र उपाय है। आप ही ने तो बताया था कि **निराकुल रहने के लिए परिस्थितियों को पलटने की अनधिकार चेष्टा करने के बजाय वस्तुस्वरूप का विचार करके अपने परिणामों को पलट लेने का बहुत सीधा व सरल उपाय जिनागम में है।** यह महामंत्र हम आप ही से तो सीखे हैं।''

विवेकी के ये विचार सुनकर मुझे विचार आया कि - ''धन्य है इसकी धार्मिक श्रद्धा को, सहनशीलता और सहिष्णुता को।''

इतनी प्रतिकूल परिस्थितियाँ होते हुए भी मैंने उसके माथे पर कभी सलवट नहीं देखी। मैंने उसे इस बीच सदा प्रसन्न, शांत और हंसमुख मुद्रा में ही देखा है।

जैसे-जैसे मित्रों, परिचितों और रिश्तेदारों को उसकी बीमारी का पता चलता तो सामान्य व्यवहार निभाने के नाते लोग मिलने तो आते, पर रोगी के दुःखदर्द में हाथ बटाने का, उसे जिनवाणी के दो शब्द सुनाने का अथवा उसकी पीड़ा को सुनने का किसी के पास समय नहीं होता। आये नहीं कि जाने की सोचने लगते। दस मिनट में तो उनकी दो-चार बार घड़ी पर दृष्टि चली जाती है।

मैं विवेकी के पास बैठा-बैठा आगंतुकों का यही दृश्य देखता रहता। मुझे उनके उस व्यवहार से ऐसा महसूस होता था कि आज के इस मशीनी

युग में मनुष्य भी मशीन की तरह हृदयहीन हो गया है। सहानुभूति केवल शब्दों तक ही सीमित रह गई है।

आनेवाला प्रत्येक व्यक्ति बड़े विनम्र भाव से हाथ जोड़कर कहता है कि - ''हमारे लायक यदि कोई सेवा हो तो अवश्य बताइए।'' पर मरीज उसके लायक उसे कोई सेवा बताये, उसके पहले ही उसकी सुनी-अनसुनी करते हुए 'अच्छा तो चलूं जरा,.....' कहकर आंधी की तरह आता और तूफान की तरह चला जाता, उसे कुछ सुनने की न फुरसत ही है और न जरूरत ही।

मैं लोगों का अत्यन्त औपचारिक व्यवहार और विवेकी की सहिष्णुता देख-देख कर हैरान हो रहा था। मैं सोचता था कि ''यदि विवेकी के पास आज तत्त्वज्ञान का बल नहीं होता, और इस विदाई की बेला में, इन सब परिस्थितियों को ज्ञातादृष्टा भाव से जानने-देखने की सामर्थ्य न होती तो क्या होता? यह तो तत्त्वाभ्यास का ही चमत्कार है, जो यह जिन्दा है; अन्यथा अज्ञानी तो आत्मघात ही कर लेता।

अनेक भुक्तभोगी व्यक्ति उसके इस धैर्य की, सहनशीलता व सहिष्णुता की प्रशंसा भी करते, आश्चर्य भी प्रगट करते; पर विवेकी न तो प्रतिकूलता में परेशान दिखाई देता और न प्रशंसा में हर्षित ही होता। साम्यभाव से सब कुछ सहते हुए पूर्व में पढ़े-सुने हुए तत्त्वज्ञान के चिन्तन मनन में ही अपने उपयोग को एकाग्र करने का प्रयत्न करता रहता।

विवेकी की देह की दयनीय दशा और उनके चिन्तन के अनुकरणीय आदर्श को देखकर भावुकतावश मेरी आँखें अनेक बार गीली हुईं। मेरी पत्नी भी मेरे आँसुओं के साथ अपने आँसू बहा रही थी। मित्र के अनुराग में जब मैं ही मात खा गया तो नारी तो आखिर में नारी ही है न! वह तो स्वभाव से ही भावुक और कोमल हृदय होती है।

हम दोनों को अपने निकट पाकर विवेकी बहुत प्रसन्न था। उसे आशा थी कि समाचार मिलते ही मैं उसकी इस अन्तिम विदाई की मंगल

बेला में उसके पास अवश्य पहुंचूँगा और उसे अंतिम समय में संबोधित करूँगा।

पर यह उसका बड़प्पन था। वह अपने आप में इतना अधिक सजग व सावधान था कि अब उसे किसी के संबोधन की आवश्यकता ही नहीं थी।''

विवेकी ने निवेदन किया कि – ''यद्यपि मैंने अपने रोग को असाध्य मानकर भक्तप्रत्याख्यान नामक व्रत लेने का संकल्प कर लिया है, पर जब आप आ ही गये हैं तो कृपया इसकी विस्तृत जानकारी देकर मेरी धारणा को दृढ़ करने का कष्ट करें।''

मैंने भक्तप्रत्याख्यान का स्वरूप समझाते हुए बताया – ''भक्तप्रत्याख्यान सल्लेखना में ऐसी प्रतिज्ञा ली जाती है कि – मैं समस्त पापारंभ सावद्य से विरक्त होकर, पाँचों पापों का त्याग करके मन-वचन-काय व कृत-कारित-अनुमोदनापूर्वक विषय-कषाय की रुचि, शोक, भय, अवसाद, अरति आदि कलुश-पाप परिणामों का भी त्याग करके अपने आत्मा में स्थिर होता हूँ।

समाधिधारक का मूल प्रतिज्ञा वाक्य इसप्रकार हैं – 'अहं सर्वसावद्य विरतोऽस्मि भक्त प्रत्याख्यान समाधिमरण अवधारयामि।'

'भक्त' शब्द का अर्थ है आहार और 'प्रत्याख्यान' शब्द का अर्थ होता है त्याग। इसप्रकार भक्तप्रत्याख्यान का अर्थ है – 'आहार को कम क्रमक्रमसे त्याग कर देह को कृश करना तथा व्रत-नियम-संयम द्वारा कषायों को कृश करके देह त्यागना।'

दूसरे शब्दों में कहें तो 'अपनी शारीरिक शक्ति प्रमाण और आयु की स्थिति प्रमाण आहार को घटाकर दूध आदि पेय पीना, फिर क्रम से दूधादि पेय पदार्थों का भी त्याग करके अपनी शक्ति प्रमाण उपवासादि करके आत्मा व परमात्मा के ध्यानपूर्वक विषय-कषायों को कृश करते हुए देह को त्यागना भक्त प्रत्याख्यान समाधि है।'

इसका उत्कृष्ट काल बारह वर्ष और जघन्यकाल अन्तमुर्हूत प्रमाण हैं, इन दोनों के बीच का काल मध्यम है।

सल्लेखना का धारक पुरुष अपने बाह्याभ्यन्तर बल एवं परिणामों को जानकर विषय-कषायों के त्यागपूर्वक शरीरादि बाह्य संयोगों एवं आहारादि का क्रमशः त्याग करता है। तथा जगत के सब प्राणियों के साथ जाने-अनजाने में हुए अपराधों के प्रति हित-मित-प्रिय वचनों के द्वारा क्षमा मांगता हुआ स्वयं भी क्षमाभाव धारण करता है।

इस समाधिमरण में ऐसी प्रतिज्ञा ली जाती है कि यदि उपसर्ग, दुर्भिक्ष या रोग आदि भाव से निवारण हो जायेगा तो आहार ग्रहण करूँगा, अन्यथा मरणपर्यन्त अन्नादि आहार का सर्वथा त्याग तो है ही।''

इसी उपर्युक्त कथन के अनुसार विवेकी ने संकल्प कर लिया था कि ''मैं सर्वपापों का त्याग करता हूँ, मेरा सब जीवों में समता भाव है, किसी के साथ वैर-विरोध नहीं है, मैं सर्व विघ्न-बाधाओं को छोड़कर समाधि ग्रहण करता हूँ, कषाय रहित होने का प्रयत्न करता हूँ तथा स्वरूप में एकाग्रता करके उसी में जमने-रमने का संकल्प करता हूँ।

मैं आहार संज्ञा का, संपूर्ण आशाओं का और ममत्वभाव का त्याग करता हूँ तथा क्रमशः अन्नाहार का त्याग कर क्रम-क्रम से दुग्धाहार एवं उष्ण जलपान पर रहूँगा, फिर दुग्धाहार का भी त्याग करके तत्त्वज्ञान के बल पर कषायों को कृश करते हुए देह का त्याग कर दूँगा। – ऐसा संकल्प करके विवेकी समाधि की साधना करने की तैयारी करने लगा।

''कोई कितना भी रागी-द्वेषी या वैरागी क्यों न हो; पर जीवन की अन्तिम घड़ियों में चिरविदाई की मंगलबेला में तो प्रायः सभी के अंदर अपने परिजनों एवं सगे-संबंधियों से मिलने, उन्हें संबोधन करने, समझाने तथा उनके प्रति हुए अपने अपराधों की क्षमा याचना करने-कराने की भावना जागृत हो ही जाती है।''

यदि सल्लेखनाधारक ने तत्त्वाभ्यास करके जिनागम के परिप्रेक्ष्य में समाधिपूर्वक जीना सीख लिया है, वैर-विरोध के दुष्परिणामों को जान लिया है तथा अपने अभाव में अपने स्नेही और मोही माता-पिता एवं स्त्री-पुत्रादि को होने वाले कल्पनातीत दुःखों का अहसास कर लिया है, तब तो उसे संबोधन का भाव और भी अधिक जागृत होता है। ताकि अन्तिम विदाई की बेला में कोई आँसू न बहाये, रोये नहीं, दुःखी न हो।

वस्तुतः ज्ञानी पूर्ण निर्विकल्प होकर ही, सभी से मोह-ममत्व त्याग कर ही अपने प्राण त्यागना चाहता है। अतः वह सबको समझाता है।''

इन तथ्यों से सुपरिचित विवेकी ने अपने सभी कुटुम्बियों एवं संबंधियों को संबोधित करके लौकिक संबंधों से भेदज्ञान कराते हुए कहा -

''सभी रिश्ते शरीर के रिश्ते हैं। जब तक यह शरीर है, तब तक आप के सब रिश्तेदार हैं, शरीर बदलते ही सब रिश्ते बदल जायेंगे। शरीर से ही इन रिश्तों की पहचान हैं। बताओ! आत्माओं को कौन पहचानता है? जब किसी ने किसी के आत्मा को कभी देखा ही नहीं है तो उसे पहचाने भी कैसे?''

विवेकी ने आगे कहा - ''इस शरीर के भाई-बंधुओ! बेटे-बेटियो! व कुटुम्बीजनो! मेरा आप सबसे कोई भी संबंध नहीं हैं। ये सब रिश्ते जिसके साथ थे, उससे ही जब मैंने संबंध विच्छेद कर लिया है तो अब आपसे भी मेरा क्या संबंध? जब देह ही अपनी नहीं है तो देह के रिश्तेदार अपने कैसे हो सकते हैं? अतः मुझसे मोह ममता छोड़ो, मैं भी इस दुखदाई मोह से मुँह मोड़कर सबसे संबंध छोड़ना चाहता हूँ। ऐसा किए बिना सुखी होने को अन्य कोई उपाय नहीं है।

अतः सब ऐसा विचार करें कि - 'मैं शरीर नहीं, मैं तो एक अखण्ड ज्ञानानन्द स्वभावी अनादि-अनन्त एवं अमूर्तिक आत्मा हूँ तथा यह

शरीर मुझसे सर्वथा भिन्न जड़स्वभावी, सादि-सान्त, मूर्तिक पुद्गल है। इससे मेरा कोई संबंध नहीं है।'

जिसे आपने कभी न देखा, न पहचाना, उससे मोह कैसा? अतः आप मुझसे राग-द्वेष का भाव छोड़ें। मैं भी आप सबके प्रति हुए मोह एवं रागद्वेष को छोड़ना चाहता हूँ। आप लोग मेरे महाप्रयाण के बाद, खेद-खिन्न न हो तथा आत्मा-परमात्मा की साधना-आराधना में सदा तत्पर रहें।

बस, यही मेरा आपको संदेश है, उपदेश है, आदेश है और आशीर्वाद है। इसे जिस रूप में चाहें ग्रहण करें। पर इस कल्याण के मार्ग में अवश्य लगें। इस स्वर्ण अवसर को यों ही न जाने दें।''

विवेकी की इस आदर्श समाधि एवं उत्कृष्ट भावना से जहाँ एक ओर मुझे भारी प्रसन्नता थी, वहीं कुछ-कुछ ईर्ष्या भी.....। मैं भावुक हो उठा था। मेरी आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई थी, जिन्हें पोंछना कठिन हो रहा था। मैं असमंजस में था, सोच रहा था, लोग क्या कहेंगे? यह कैसे गुरुजी हैं? यदि किसी ने कह दिया कि - ''क्या सारा ज्ञान दूसरों को समझाने के लिए ही होता है?..... ''तो मैं क्या मुँह दिखाऊँगा?

मैंने अपने मन को झकझोरते हुए कहा - ''कहो गुरु कैसी रही? बड़े गुरु बनते थे, ज्ञानी होने का दंभ भरते, यह क्या हुआ? नारियों की भाँति भावुक हो ये आंसू क्यों बहा रहे हो? कहाँ गया वह तुम्हारा तत्त्वज्ञान? तुम्हारे ये आँसू देख जब कोई कहेगा कि 'वाह भाई वाह!! गुरु तो गुरु ही रह गया, चेला महागुरु बन गया' तो तब तुम क्या कहोगे..... ?''

मेरे मन के ही दूसरे कोने से आवाज आई - ''कहने दो, कहने दो; कोई बात नहीं, हम भी कह देंगे, आखिर शिष्य किसका है?''

जिस तरह पुत्र के आगे बढ़ने से पिता प्रसन्न ही होता ईर्ष्यालु नहीं; उसी तरह शिष्य भी यदि गुरु से आगे बढ़ता है तो गुरु भी प्रसन्न ही होते हैं

ईर्ष्या नहीं करते। जो शिष्यों से ईर्ष्या करें वह गुरु तो वस्तुतः गुरु ही नहीं है, क्योंकि जब उसमें गुरुत्व नहीं तो वह किसी का गुरु कैसे बन सकता है?

इस तरह मैं अपने मन में चल रहे अन्तर्द्वन्द्व को शांत करके विवेकी को विदाई देने का साहस जुटा ही रहा था कि देखते ही देखते विवेकी ने आँखें बंद कर लीं, मानो वह अतीन्द्रिय आनन्द में निमग्न होकर निर्विकल्प होने का पुरुषार्थ कर रहा हो।

मैं उसकी आँखें खुलने की प्रतीक्षा करता रहा, पर वे खुली ही नहीं, मुँह पर हाथ फेरकर देखा तो पाया कि वह मोह-माया से संघर्ष करते-करते स्वरूप के सहारे मृत्युंजयी बन गया है, अमर हो गया है। वैसे मैंने विदाई तो बहुत बार बहुतों को दी, पर धन्य था, वह विवेकी, जिसने सार्थक और सफल कर ली अपनी अंतिम विदाई की बेला।

ॐ शान्ति ..... शान्ति ..... शान्ति .....

●

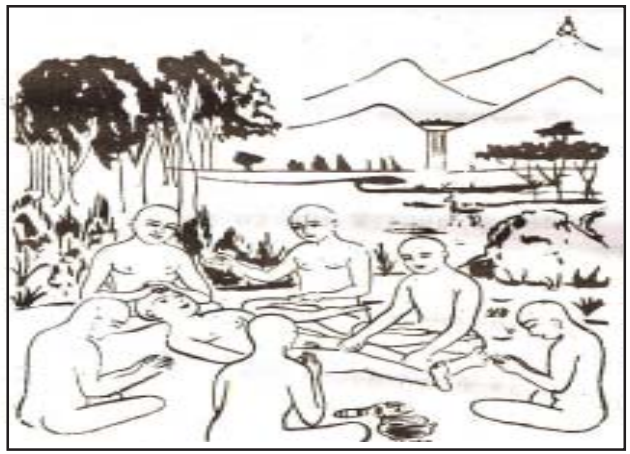

अभिमत

(पाठकों की दृष्टि में प्रस्तुत प्रकाशन)

● वस्तुतः इस कृति को पढ़कर हम गद्-गद् हो गये

'विदाई की बेला' में अनेकों जगह ऐसे मर्मस्पर्शी प्रसंग और वाक्य आये हैं, जिन्हें पढ़कर हम विमोहित से हो गये।

संसार का स्वरूप, मनुष्य जन्म की दुर्लभता और उसकी सार्थकता, पारिवारिक (घरेलू) जीवन के अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंगों में समताभाव धारण करने के उत्प्रेरक कथा प्रसंग और सभी प्रासंगिक बातों का सहज कथा प्रवाह एवं सभी विषयों का अति सुन्दर ढंग से सरल भाषा में मार्मिक प्रतिपादन इस कृति में हुआ है। इसे पढ़कर हमें प्रेरणा तो मिली ही, मागदर्शन भी मिला।

– जिनेन्द्र दास जैन सेवानिवृत्त इंजीनियर, धामपुर (उ.प्र.)

● यह इतनी अच्छी लगी कि बार-बार पढ़ने की इच्छा होती है

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल की नूतन कृति 'विदाई की बेला' एक उच्चकोटि की रचना है। इसमें सदासुखी और विवेकी के कथानक के माध्यम से संसार की दशा का सहज ही सुन्दर चित्रण किया गया है। पुस्तक के शीर्षक को देखकर पहले तो ऐसा लगा कि इसमें लड़की की विदाई की बेला का कोई चित्रण होगा। किन्तु पुस्तक को ध्यानपूर्वक पढ़ने पर ज्ञात हुआ कि इसमें तो चिर विदाई (मृत्यु महोत्सव) की बेला का विशद विवेचन है। इसमें विवेकी की चिर विदाई की बेला का जो मार्मिक चित्रण किया गया है वह चिन्तन और मनन के योग्य है। विषय प्रतिपादन की शैली अत्यन्त रोचक है। वर्तमान युग में ऐसे ही साहित्य की आवश्यकता है। मुझे यह पुस्तक इतनी अच्छी लगी कि बार-बार इसे पढ़ने की इच्छा होती है। **– सेवानिवृत्त प्रो. उदयचंद्रजी जैन**

सर्वदर्शनाचार्य, पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस

● सशक्त लेखनी का उत्कृष्ट नमूना

'विदाई की बेला' आध्यात्मिक दृष्टि से आधुनिक कथा साहित्य के क्षेत्र में आपकी सशक्त लेखनी का उत्कृष्टतम नमूना है। क्या रचना तंत्र, क्या चरित्र-चित्रण, क्या वैचारिक शान्त रस का परिपोष, क्या समाधिमरण की व्याख्या? क्या-क्या गिनायें, सब में उत्कृष्टता है।

अध्यात्म रस से ओत-प्रोत यह कृति सूक्ष्मतम सिद्धान्तों को हृदयंगम कराने में भी सफल है। 'जीवन जीने की कला' को कथानक में बड़ी अच्छी तरह से अनुस्यूत किया है। आपका लेखन गूढ़विचार गर्भित, सुबोध और आत्मबोध लक्ष्यी होता है। बारम्बार पढ़ा ..... फिर-फिर पढ़ने को मन ललचाता है। इसमें प्रौढ़ों को अपना बुढ़ापा सफल व सुखद बनाने की कला मिल जाती है। अधिक क्या? यह कृति आत्मार्थी को मोक्षोन्मुख बनाने में पूर्ण समर्थ हैं।

– प्रो. प्रेमचन्द निरखे, मल्कापुर (महा.)

● सुन्दर कृति

'विदाई की बेला' रोचक, ज्ञानवर्द्धक, आध्यात्मिक आस्वाद देनेवाली सुन्दर कृति है। एतदर्थ लेखक को जितना धन्यवाद दिया जाय कम है। **– डॉ. महेन्द्रसागर प्रचण्डिया,** अलीगढ़ (उ.प्र.)

● गुजराती अनुवाद अत्यावश्यक

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल द्वारा लिखित 'विदाई की बेला' बहुत सुन्दर कृति है। यह पुस्तक मुझे इतनी अच्छी लगी कि मैंने इसे एक बैठक में ही पूरी तरह पढ़ ली और बारम्बार पढ़ने का मन होता है।

इसमें कथा का प्रस्तुतीकरण और आध्यात्मिक बोध खूब सुन्दर ढंग से रखा गया है। हिन्दी न जाननेवाले हमारे गुजराती भाई भी इसे पढ़ सकें; समझ सकें, एतदर्थ गुजराती अनुवाद अत्यावश्यक है। इसे पढ़कर इसका गुजराती अनुवाद करने की स्वयं मेरी प्रबल भावना हो रही है। एतदर्थ आपकी अनुमति अपेक्षित है। उत्तर की प्रतीक्षा में।

– डॉ. बलूभाई शाह, बम्बई

● लाखों प्रतियाँ घर-घर पहुँचें

'विदाई की बेला' पढ़कर मुझे जो आनन्द प्राप्त हुआ, मैं उसका वर्णन शब्दों में नहीं कर सकता। इसे जो भी भाई पढ़ना प्रारंभ करेगा, अन्त तक पढ़कर ही छोड़ेगा। तत्त्वज्ञान होने पर समाधि किस प्रकार सहज हो जाती है, इसका वर्णन इस पुस्तक में लेखक ने सरल भाषा में किया है। 'विदाई की बेला' पुस्तक छह माह के अल्पकाल में दस हजार की संख्या में समाज में फैल गई। यह तो खुशी की बात है ही, इसकी और भी लाखों प्रतियाँ घर-घर पहुँचें - ऐसी मेरी आन्तरिक भावना है तथा इस प्रकार की और भी पुस्तकें बनायी जाएँ, जिनसे वृद्ध, प्रौढ़, युवा एवं बालकों में भी वीतराग मार्ग के प्रति सच्ची तत्त्व रुचि जाग्रत होवे।

लेखन ने इस पुस्तक के द्वारा विवेक को समाधिमरण कराकर समाधि की भावना को प्रगटरूप देकर समाज का बहुत बड़ा उपकार किया है। यह पुस्तक 'संस्कार' से भी अधिक लोकप्रिय होगी - ऐसा मेरा मानना है।

– पूनमचन्द छाबड़ा

मंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

● विदाई की बेला रूपक : एक मधुर संकल्पना

'विदाई की बेला', सुभाषित वाक्यों, नीति, आगम और आध्यात्मिक विचारों को अपने में समाहित किये हुए हैं। मृत्यु के समय को 'विदाई की बेला' के रूपक में प्रस्तुत करके लेखक ने मधुर संकल्पना दी है। इस 'विदाई की बेला' समय हमारे परिणाम कैसे हों और इन परिणामों के लिए जीवन के अन्तिम चरण वृद्धावस्था में क्या तैयारी हो; इसका दिशा-निर्देश 'सदासुखी' के चरित्र के रूप में बहुत सुन्दर ढंग से किया गया है। समाधि, समाधिमरण, सल्लेखना, इन विषयों का विवेचन बड़ा मधुर है। सदासुखी के जीवन में इनका दर्शन तो पूरे विवेचन को सजीव बना देता है। पुस्तक का गेट-अप, कागज, छपाई आदि भी सुन्दर है। लेखक बधाई के पात्र हैं। **– श्री हरकचन्द बिलाला,** अशोकनगर (म.प्र.)

● अन्य भाषाओं में भी अनूदित होना चाहिए

सरल स्वभावी पण्डित श्री रतनचन्दजी भारिल्ल की कृति 'विदाई की बेला' ने धर्म को सीधे हमारे जीवन से जोड़ा है। प्राप्त विषम परिस्थितियों में सुखी होने के सरलतम उपाय के रूप में 'विदाई की बेला' मानों एक समीकरण सा बन गया है।

यह कृति मराठी और कन्नड़ भाषा के पाठकों को भी उनकी भाषा में अनूदित होकर उपलब्ध हो - ऐसी मेरी भावना है।

आपकी 'सामान्य श्रावकाचार' और 'संस्कार' कृतियाँ भी अतिशय उपयोगी हैं, वे भी उपर्युक्त भाषाओं में अनूदित होनी चाहिए।

मेरा मानना है कि - कठिन तत्त्वज्ञान को सरल भाषा में प्रस्तुत करना ही विद्वताकी सही कसौटी है, जो इन कृतियों में देखने को मिलती है।

– ब्र. यशपाल जैन एम.ए., कुम्भोज बाहुबली (महाराष्ट्र)

● वीडीओ कैसिट बनना चाहिए

'विदाई की बेला'और 'संस्कार' में लेखक ने गागर में सागर भर दिया है। यह प्रचार-प्रसार का युग है और आज टी.वी., वी.सी.आर. प्रचार के सशक्त माध्यम हैं। अतः इन पुस्तकों का संक्षिप्त रूपान्तरण होकर वी.डी.ओ. कैसिट बनना चाहिए। जिससे अधिकतम धर्मप्रभावना हो सके। लेखक की इस देन के लिए मैं आन्तरिक हृदय से उनका अभिवादन करता हूँ। **– गम्भीरमल सोनी,** फुलेरा

● सभी मुमुक्षु इसे बारम्बार पढ़ें

'जन्म-मरण रूप संसार में भटकते हुए संसारी प्राणियों को जन्म-मरण मिटाने का उपाय जानने के लिए एवं शान्ति सुख का लाभ प्राप्त कराने के लिए यह कृति अत्यन्त उपयुक्त है। सभी मुमुक्षु इसे बारम्बार पढ़ें व लाभ उठायें।

– पण्डित नरेन्द्रकुमारजी भिषीकर

न्यायतीर्थ, सोलापुर (महाराष्ट्र)

● रोचक ज्ञानवर्द्धक कथानक

आपने अन्तर के हिमालय प्रदेश में तथा चैतन्य के नन्दनवन में विहार करके एवं चेतन रत्नाकर में डुबकी लगाकर 'विदाई की बेला' के रूप में समाधि का वास्तविक स्वरूप लिखा है और कथानक के माध्यम से निज परमानन्द आत्मा की दो अवस्थाओं के रूप में कथानक के पात्र सदासुखी एवं विवेकी को प्रस्तुत किया है; जोकि अनादिकाल से अपने उपयोग लक्षण की विभावदशारूप होकर विवेकहीन थे, असमाधि से दुःखी थे, उन्हें ज्ञानगंगा में डुबकी लगवाकर रत्नधारण कराकर समाधिमरण की विचित्रता का अनुभव किया है। इस रोचक, ज्ञानवर्द्धक, कथानक से आत्मार्थियों को आशातीत लाभ होगा। इस कृति के लिए आपको जितना धन्यवाद दिया जाए कम है।

– आतमागवेषी विद्वान सुजानमल मोदी, बड़ी सादड़ी (राज.)

● अहिंसावाणी (मासिक) मार्च, जून, १९९२

प्रस्तुत कथाकृति को लघु उपन्यास कहें या बड़ी कहानी? वैसे कथावार्ता भी कहा जा सकता है। पूरी कृति का कथ्य उत्तम पुरुष में प्रस्तुत किया गया है। यों लेखक स्वयं ही उसमें एक चरित्र बन जाता है।

एक पात्र के रूप में लेखक स्वयं प्रारम्भ से अन्त तक कथानक पर छाया रहता है। कथानक का पात्र विवेकी नायक के रूप में उभर कर हमारे सामने आता है। नायक विवेक होता है। उसके विवेकी होने की स्थिति बहुत ही क्षिप्र हुई है। उसकी गति कुछ धीमी और मनोवैज्ञानिक होनी अपेक्षित थी।

विद्वान लेखक समाज के जाने-माने प्रवचनकार भी हैं, अतः इस कथानक में वे विवेकी के गुरु बन जाने के नाते संल्लेखना मरण के निर्यापकाचार्य के रूप में प्रस्तुत होते दिखाई देते हैं।

कथानक में लेखक ने समाधिमरण/सल्लेखना मरण की सरल सुबोध व्याख्या की है और कथा नायक की मरणासन्न विषम अवस्था में उसकी स्थिति-प्रज्ञता तथा तटस्थ ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप का अच्छा विश्लेषण एवं चित्रण किया है। यही इस कृति की खासी सफलता है।

– वीरेन्द्रप्रसाद जैन, प्रधान संपादक, अलीगंज (उ.प्र.)

● अहिंसा वाइस (मासिक) दिल्ली, जन–मार्च, ९२ (संयुक्तांक)

कथा शैली के माध्यम से जैन तत्त्वज्ञान को सरलता से पाठकों तक पहुँचाने का भारिल्लजी का यह प्रशंसनीय प्रयास है। इस विधा में आपकी यह दूसरी पुस्तक है। प्रथम कथाकृति 'संस्कार' का समाज में यथेष्ठ स्वागत हुआ है।

प्रस्तुत पुस्तक में कथानक के द्वारा संन्यास एवं समाधि की चर्चा है। उस संन्यास एवं समाधि की, जिसकी साधना–आराधना न केवल जीवन के उत्तरार्द्ध में या मृत्यु के सन्निकट होने पर की जाती है, अपितु जीवन के स्वर्णकाल में, परिवार के मध्य में रहते हुए भी की जा सकती है और की जानी चाहिए। सरल, सुबोध भाषा में लिखी यह पुस्तक उपदेशात्मक शैली में है। मुझे लगता है कि यह 'संस्कार' से भी अधिक जनप्रिय होगी।

– सतीशकुमार जैन, संपादक, श्रमण–साहित्य संस्थान, दिल्ली

● इससे जीवन जीने की कला का ज्ञान भी होता है।

आपकी अनुपम कृति 'विदाई की बेला' पढ़कर मुझे ऐसा लगा कि यह कृति हम जैसे वृद्धों के लिए ही लिखी गई है, जिनकी 'विदाई की बेला' अब नजदीक है। वास्तव में यह उपन्यास तत्त्वचर्चा व सामयिक तत्त्वज्ञान से भरा हुआ है। इसको पढ़कर तत्त्वज्ञान तो होता ही है, जीवन जीने की कला का ज्ञान भी होता है। आत्मार्थी को तत्त्वज्ञान की प्यास कैसी होती है या कैसी होनी चाहिए, यह भी इसमें दर्शाया गया है।

आपने 'विवेकी' को समाधिमरण कराकर, समाधि भावना को प्रेक्टीकल रूप देकर समाज का बहुत ही उपकार किया है। इसे पढ़कर मनुष्य को सच्ची समाधि की प्रेरणा मिलती है। इसके लिए आपको जितना भी धन्यवाद दिया जाय, कम है।

– श्री सागरचन्द जैन, 'विचारक', भोगाँव (मैनपुरी)

● यह हमारे जीवन पर पूरी उतरती है

जैनपथ प्रदर्शक में आपके द्वारा लिखित 'विदाई की बेला' की किश्तें पढ़ीं, बहुत बढ़िया लगीं, यह हमारे जीवन पर पूरी उतरती हैं। आप जो भी लिखें, उसकी पुस्तक अवश्य बननी चाहिए। इसे भी पुस्तक के रूप में

अवश्य छपायें। **– स्वरूपचन्द मोतीलाल जैन,** सनावद (म.प्र.)

● आत्मधर्म बतानेवाली कृति

आपकी 'विदाई की बेला' और 'संस्कार' दोनों ही किताबें बहुत ही रोचक, मार्मिक एवं आत्मधर्म बतलानेवाली हैं। इन्हें पढ़कर बहुत हर्ष हुआ। ऐसी ही मार्मिक ज्ञान देनेवाली किताबें आपके द्वारा लम्बे काल तक लिखी जाती रहें, यह मेरी मंगल कामना है।

– व्होरा हीरालाल जैन, पुणे (महाराष्ट्र)

● चैतन्यसुख मासिक, उदयपुर

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल की 'विदाई की बेला' संस्कार की तरह ही कथा साहित्य की दूसरी कड़ी है। यह सभी प्रकार के पाठकों के लिए रोचक, ज्ञानवर्द्धक एवं अध्यात्म का सार बतानेवाली अनुपम कृति है। इसकी भाषा सरल एवं सुबोध है।

गृहस्थी में रहते हुए भी इसके पाठकों को आत्मा की सच्ची साधना एवं आराधना की प्रेरणा मिलेगी। गृहस्थ भी समाधिमरण कर अपना ऐहिक एवं पारलौकिक जीवन सुखी बना सकेगा।

– पण्डित मांगीलाल अग्रवाल

● अपने पैसे खर्च करके भी मित्रों को पढ़ने दूँगा

'विदाई की बेला' पढ़कर मुझे इतनी शक्ति व शान्ति मिली कि मैं शब्दों में वर्णन नहीं कर सकता। इस पुस्तक ने मुझ जैसे रेगिस्तानी प्यासे प्राणी को पानी ही नहीं, बल्कि अमृतपान कराया है। मैं इसे अपने पैसे खर्च करके भी मित्रों को पढ़ने दूँगा। **– राजीव जैन,** दिल्ली

● जैन साहित्य को नई देन

'विदाई की बेला' उपन्यास विधा में लिखकर अपने जैन साहित्य को एक नई देन ही है। वस्तुतः यह सर्वश्रेष्ठ बन पड़ा है। एक आत्मार्थी जीव के लिए समतामय जीवन जीने के लिए समाधिमरण की यथार्थ जानकारी के लिए आगम के आलोक में लिखी गई यह कृति अत्यन्त उपयोगी बन गई है। **– बाल ब्र. कैलाशचन्द शास्त्री 'अचल',**

ललितपुर (उ.प्र.)

● यह कृति शान्तिपथ प्रदर्शिका बन सकेगी

आपने बुजुर्गों को अपना शेष जीवन सार्थक करने की कला का दिग्दर्शन तो इस 'विदाई की बेला' कथा कृति में कराया ही है, जन सामान्य के लिए भी यह अनुपम कृति शान्तिपथ की पथ प्रदर्शिका बनेगी, पाठकों को सुखद जीवन की शुरूआत करने में सहायक होंगी।

पूर्व में आपकी अनुपम कथाकृकत संस्कार तो पढ़ी थी। जनसामान्य की रुचि में परिवर्तन हेतु सरल भाषा व कथानक शैली में ये पुस्तकें लिखकर आपने भी अपने अनुज डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल की भाँति साहित्य की सभी विधाओं में महान योगदान किया है।

तत्त्व के प्रचार-प्रसार की गंगा-जमुना धारा के समान आपकी जोड़ी को समाज सदैव स्मरण रखेगा।

– (श्रीमंत सेठ) राजेन्द्रकुमार जैन, विदिशा (म.प्र.)

● एक अनुपम कार्य

आपका 'विदाई की बेला' उपन्यास बहुत अच्छा लगा। आपने धार्मिक क्षेत्र में उपन्यास शैली अपना कर बहुत अच्छा-एक अनुपम काम किया है। सदासुखी और विवेकी पात्रों जैसी समाज में जागृति आवे और आप जैसे विद्वान साहित्य के सृजन व प्रचार-प्रसार द्वारा इस जनजागरण के काम को करते रहें - यही मेरी मंगल भावना है।

– किरण भाई जे. कामदार, जैतपुर (गुज.)

● सबसे रोचक व उपादेय कृति

'सामान्य श्रावकाचार' और 'विदाई की बेला' दोनों पुस्तकें बहुत उपयोगी हैं। इनमें विषय का प्रतिपादन बड़ी स्पष्टता से किया गया है। सबसे रोचक व उपादेय 'विदाई की बेला' लगी। इसमें कथा सूत्र जुड़ जाने से इसकी पठनीयता तथा बोधगम्यता बढ़ गई है। इन कृतियों के लिए आपको हार्दिक बधाई।

– प्रसिद्ध साहित्यकार श्री यशपालजी जैन, नई दिल्ली

● गूढ़तत्त्वों के प्रतिपादन की विलक्षण सूझ-बूझ

'विदाई की बेला' वास्तव में एक आध्यात्मिक कृति है। जैन दर्शन के गूढ़तत्त्वों एवं रहस्यों को आपने अपनी विलक्षण सूझ-बूझ से सरल एवं बोधगम्य बनाया है।

आपकी रचनाओं में आपके गहन अध्ययन, परिपक अनुभव एवं तीव्र आध्यात्मिक अभिरुचि की अमिट छाप दृष्टिगोचर होती है।

हम आपके सुखद जीवन की कामना करते हुए भावना भाते हैं कि लोकहित की दृष्टि से आप इसी तरह के बोधगम्य भाषा-शैली के साहित्य का सृजन करते हुए धर्म के प्रचार-प्रसार में सतत संलग्न रहें।

– डालचन्द जैन, (पूर्व सांसद)
सागर (म.प्र.), अध्यक्ष, अ.भा. दिगम्बर जैन परिषद, दिल्ली

● कृति मन को प्रभावित करती है

'विदाई की बेला' पढ़ी, बहुत अच्छी लगी। इतने सुन्दर ढ़ंग से लिखी गई है कि मन को प्रभावित करती है। हमें यह इतनी अच्छी लगी कि हमने अजमेर में आयोजित सिद्धचक्र मण्डल विधान महोत्सव के अवसर पर ट्रस्ट की ओर से इसकी ३०० प्रतियाँ सभी साधर्मी भाई-बहिनों को भेंट कीं। हम आशा करते हैं कि भविष्य में भी समाज को इसीप्रकार की सुन्दर, लाभप्रद, कल्याणमार्ग की ओर ले जाने में निमित्त रूप रचनायें पढ़ने को मिलेगी।

– श्री हीराचन्दजी व्होरा
मंत्री, वी.वि. स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, अजमेर

● अनुपम कृति

उपन्यासिक शैली में लिखी गई विदाई की बेला साहित्यिक दृष्टि से अनुपम कृति है। भाषा सरल, सरस व बोधगम्य है। कवर का गेटअप भी आकर्षक बन पड़ा है। उत्कृष्ट कृति के लिए लेखक को बधाई।

– श्री अखिल बंसल

संपादक, समन्वय वाणी, जयपुर

● पत्र लिखे बिना चैन नहीं पड़ी

आपकी 'विदाई की बेला' इतनी पसंद आई कि आपको पत्र लिखे बिना चैन नहीं पड़ी।

कथा के माध्यम से, मनुष्य जीवन का चित्र खींचकर उस जीवन को शाश्वत सुख की प्राप्ति की ओर मोड़कर सारा मोक्षमार्ग आपने इस किताब में चित्रित किया है। तत्त्वज्ञान प्रतिपादन का एकदम बढ़िया फ्लो बना है।

जैन तत्त्वज्ञान से अनभिज्ञ व्यक्ति तो इसे पढ़े तो उसके ध्यान में भी परम सत्य वस्तु स्वरूप आयेगा तथा रोचक पद्धति के कारण व्यक्ति पूरी किताब पढ़कर ही रुकेगा। आत्मा को मुक्ति के मार्ग में लगाने, मृत्यु का स्वागत करने एवं जीन की कला में उत्साहित करने की सामर्थ्य इस किताब में है। इसके पहले आपकी 'संस्कार' किताब पढ़ी थी, वह भी अपने विषय की बेजोड़ लगी थी। उसके बाद आपने इतनी जल्दी यह अनुपम कृति देकर समाज का बड़ा उपकार किया है। एतदर्थ आपका हार्दिक अभिनन्दन। **– बाल ब्र. श्री धन्यकुमार बेलोकर,** महामंत्री

● प्रारंभ करने पर पूरी पढ़े बिना छोड़ी नहीं जाती

'विदाई की बेला' आद्योपान्त पढ़ी। आपने जैनदर्शन के दार्शनिक सिद्धान्तों का संक्षेप सारभूत, निचोड़, सरल, सुगम भाववाही शैली में साहित्यिक कहानी के रूप में इस ढंग से रखा है कि पढ़ने वाले का चित्त आकर्षित होकर आगे-आगे उत्सुकता बढ़ती रहती है। पुस्तक को हाथ से छोड़ने का मन नहीं होता बल्कि ज्ञान की खुराक मिलती रहने से पेट की खुराक में उपेक्षा होती रहती है।

प्राथमिक भूमिका वालों के लिए तो लोह-चुम्बक का काम करती है यह पुस्तक। जैसा नाम वैसा ही गुण है इसमें। चतुर्गति संसार परिभ्रमण रूप भावमरण द्रव्यमरण का विनाश कर समाधिमरण, संन्यासमरण, पण्डित मरण का महोत्सव कैसा होता है, इसका सुन्दर चित्रण किया है। यह कृति देश-विदेश में सार्वजनिक रूप से मनमोहक बनकर सबका अविनाशी आत्मकल्याण में निमित्त बने। यही मंगल भावना है।

– पण्डित देवीलालजी मेहता, उदयपुर (राज.)

● समाधि साधक मुमुक्षु को सर्वांगीण उपयोगी पुस्तक

'खनियांधाना में नन्दीश्वर जिनालय शिलान्यास महोत्सव के प्रसंग पर संयोग में बहुत दिनों बाद मुझे आपके सरल-सुबोध शैली में आध्यात्मिक प्रवचन सुनने का सौभाग्य मिला। मेरा हृदय प्रफुल्लित हुआ।

आपकी नवीन कृति 'विदाई की बेला' भी मैंने मनोयोगपूर्वक पढ़ी, पढ़कर भारी प्रसन्नता हुई। निश्चय ही एक समाधि साधक मुमुक्षु जीव को यह पुस्तक सर्वांगीण उपयोगी है, ऐसा मुझे लगा। प्रत्येक आत्मकल्याणार्थी जीव को इसका अध्ययन करना चाहिए?

– वयोवृद्ध विद्वान ब्र. बाबा परसरामजी
अधिष्ठाता, उदासीन आश्रम, इन्दौर (म.प्र.)

● प्रत्येक कृति घर-घर में ध्यानपूर्वक पढ़ी जाती है

डॉ. भारिल्ल! आप तो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के विद्वान बन ही चुके हैं, आपके अग्रज पं. रतनचन्दजी भारिल्ल भी बहुत सुन्दर लिख रहे हैं। उनकी भी प्रत्येक कृति घर-घर में खूब ध्यानपूर्वक पढ़ी जाती है।

पूजन विषयक जिनपूजन रहस्य, समाधि विषयक, विदाई की बेला, सदाचार प्रेरक संस्कार एवं सामान्य श्रावकाचार और णमोकार महामंत्र आदि सभी कृतियाँ बेजोड़ हैं।

आप लोगों की उन्नति देखकर हार्दिक प्रसन्नता होती है।

– पण्डित हीरालाल जैन 'कौशल'
– डॉ. सत्यप्रकाश जैन, एम.ए., पीएच.डी., दिल्ली

● जैसा विश्वास था, वैसी ही पाई

'विदाई की बेला' कृति प्राप्त की। नाम के अनुसार उसमें सामग्री होगी - ऐसा श्रद्धान था, जैसा विश्वास था वैसी ही पाई। मैंने रात्रि के समय उसका अध्ययन आरंभ किया तो आद्योपान्त पढ़े बिना छोड़ने को जी ही नहीं चाहा।

आप लोगों के परिवार को विलक्षण सरस्वती प्राप्त हुई, यह देखकर अपार हर्ष हो रहा है। आपके चेहरे की शान्तमुद्रा से भी बड़ी शान्ति मिलती है। समय-समय पर हम लोगों के प्रेरणा स्रोत बने रहें।

– ब्र. छक्कीलाल जैन

अधिष्ठाता – गु. दिग. जैन उदासीन आश्रम, द्रोणगिरी (म.प्र.)

● किसी भी वर्ग के पाठक का मन ऊब नहीं सकता

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित 'विदाई की बेला' पुस्तक मेरे पास लगभग एक मास पूर्व आ गई थी, पर इसे एक के बाद एक–अनेक पाठकों ने सुझे से मांग–मांगकर रुचिपूर्वक आद्योपान्त पढ़ा और मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। यह आज मेरे हाथ में आ पाई है। इससे इसकी रोचकता सिद्ध होती है। इसे जो भी पढ़ना शुरू करता है, वह अन्त तक पहुँचे बिना नहीं रहता।

''जो भी पैदा होता है, उसे एक–न–एक दिन वर्तमान जीवन से विदाई लेनी पड़ती है'' – इसी बात को प्रतिभाशाली लेखक ने अत्यन्त रोचक शैली में कथा का रूप देकर प्रकट किया है। कठिन से कठिन तत्त्वों को सरल एवं सरस हिन्दी भाषा में ऐसे ढंग से लिखा है कि किसी भी वर्ग के पाठक का मन ऊब नहीं सकता।

प्रस्तुत पुस्तक में यत्र–तत्र प्रसंगतः संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी के अत्यन्त सरल और शिक्षाप्रद पद्य दिये हैं, जिनसे इसकी गरिमा और भी अधिक बढ़ गई है।

कथानक में दिये गये पात्रों के सदासुखी एवं विवेकी आदि नाम सार्थक हैं, जिन्हें सोच–समझकर ही रखा गया है।

प्रस्तुत कृति में सल्लेखना की चर्चा अपेक्षाकृत विस्तार से की गई है। जो अक्षरशः पढ़ने योग्य है। वैसे तो सल्लेखना व समाधिमरण दोनों पर्यायवाचक शब्द हैं, पर विद्वान लेखक ने पृष्ठ ९ पर जो सूक्ष्म अन्तर बतलाया है – वह मूलतः दृष्टव्य है।

इसे जो भी पढ़ेंगे उनके मन अवश्य ही निर्मल–निर्विकार होंगे। मानव जीवन में जन्म की अपेक्षा मरण सुधारने का महत्त्व अधिक होता है। जिन्होंने समाधि द्वारा अपने मरण करें संभाल लिया वे अपने अगले जन्म को सुखी बना लेते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक का विषय, लेखन शैली, प्रूफ संशोधन, टाइप, कागज, छपाई–सफाई और गैटअप आदि सभी नयनाभिराम और चित्ताकर्षक है।

– पं. अमृतलाल शास्त्री, साहित्याचार्य, ब्राह्मी विद्यापीठ, लाडनूं

● सही जीवन–शैली समझाने में समर्थ कृति

'विदाई की बेला' में लेखक ने नाना जन्मों में होनेवाले चिरविदाई का कथाशैली में सुन्दर वर्णन किया है।

बार–बार होनेवाली दुःखद चिरविदाई सुखद कैसे बन सकती है? इस बात को आगम के आलोक में समझाने का सफल प्रयास प्रस्तुत कृति में किया गया है। तत्त्वदर्शन से समन्वित यह रचना रुचिकर तो है ही, इसकी भाषा–शैली भी सरल एवं प्रवाहपूर्ण है। आशा है पाठक इस रचना के माध्यम से अपनी जीवन–शैली समझने में यत्नशील होंगे।

– डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री, एम.ए., पीएच.डी.
शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, नीमच (म.प्र.)

● आपकी लेखनी से ऐसा ही लेखन सदैव होता रहे

आपकी लिखी 'विदाई की बेला' पढ़ी। पुस्तक इतनी अच्छी लगी कि पढ़ना प्रारंभ करने पर पूरी करके ही रुका। अनेक स्थल तो ऐसे प्रेरणादायक और हृदयस्पर्शी हैं, जिन्हें पुनः पढ़ने का मन होता है।

मृत्युमहोत्सव के विषय में दी गई व्यावहारिक जानकारी तो मार्मिक है ही, तात्त्विक विषयवस्तु और आध्यात्मिक गहराई भी भरपूर है।

आपकी लेखनी से इसीप्रकार का यशस्वी लेखनकार्य होता रहे यही मंगल कामना है।

– डॉ. व्ही.एच. सोनटके,
नाला सोपार, (वेस्ट) महाराष्ट्र

● एक–एक अक्षर में रस की गंगा बहती है

मैंने आपके द्वारा लिखित विदाई की बेला, सुखी जीवन, संस्कार और इन भावों का फल क्या होगा, आदि किताबों का ज्ञान प्राप्त किया है। वह मुझे बहुत ही अच्छी लगीं, मेरे मित्रों ने भी इन पुस्तकों को पढ़ा और इनकी प्रशंसा करते हुए कहा कि – इन पुस्तकों के एक–एक अक्षर में रस की गंगा बहती है और बहुत ज्ञानप्रद बातें प्राप्त होती हैं। यद्यपि हम जैन नहीं हैं; फिर भी आपका साहित्य अत्यन्त सरल भाषा में होने से हमें समझ में आ जाता है।

मुझे और मेरे मित्रों को इन पुस्तकों को पढ़कर बहुत खुशी होती है। मेरे मित्रों ने आपसे मिलने की इच्छा भी व्यक्त की है।

– दिनेशचन्द राजोरिया, नाहरगढ़ रोड़ नीमड़ी के थाने के पास, जयपुर

● समाज की दिद्दर्शक कृति

साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है; किन्तु अबतक समाज के समक्ष सामाजिक चेहरों को प्रतिबिम्बित करनेवाले इतने अधिक दर्पण आ चुके हैं कि अब समाज उन दर्पणों में अपना विकृत मुख देखने का आदी सा हो गया है। इसलिए आज यह आवश्यक हो गया है कि साहित्य समाज का मात्र दर्पण ही नहीं; बल्कि दिशा दर्शक भी बने।

लेखक की अत्यन्त लोकप्रिय कृति 'विदाई की बेला' जैसी ही 'सुखी जीवन' भी इसी नवीन प्रयोग की एक और महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें लोकोत्तर सुख-शान्ति प्राप्त करानेवाले दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण करने एवं वर्तमान जीवन की गूढ़ समस्याओं को सरलता से सुलझाने के लिए ही विद्वान लेखक ने कथा साहित्य का सहारा लिया है।

लेखक समय-समय पर गूढ़ विचारों और गहन अनुभूतियों को सरलतम रूप में जन-जन तक पहुँचाने श्रद्धास्पद बनाने के लिए अन्यान्य आचार्यों के कथनों का आधार भी ग्रहण करते रहे हैं।

उपन्यास होते हुए भी इसमें प्रेम भावों को पूरा उदात्तीकरण हुआ है। मानसिक एवं आध्यात्मिक योग का इतना आधिक्य है, जिससे इसमें लौकिक प्रेम का स्थान नगण्य हो गया है। सचमुच यह एक आध्यात्मिक रचना है, जो आत्मार्थियों का मार्गदर्शन करने में पूर्ण समर्थ है। बारम्बार स्वाध्याय करने योग्य है।

– डॉ. अनेकान्त जैन

प्रवक्ता, लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विश्वविद्यालय, दिल्ली

●●●

लेखकीय :

ऐसा क्या है इस उपन्यास में ?

''आजीविका आदि के अति आवश्यक कार्यों के कारण समय कम है और साहित्यिक सामग्री प्रचुर है, क्या-क्या पढ़ें? आखिर इसमें ऐसा क्या है? जिसे जरूरी काम छोड़कर भी पढ़ा जाय?''

यदि आपके मन में ऐसा प्रश्न उठे तो ये प्रारंभिक लेखकीय के पृष्ठ पढ़ ही लें। संभव है ये दो पृष्ठ पढ़ने पर आपको पूरी पुस्तक पढ़ने का मन हो जाय।

मेरा विश्वास है कि यदि आपने पुस्तक पढ़ना प्रारंभ कर दिया तो पूरी पढ़े बिना नहीं रहा जायगा और हो सकता है कि आपको बहुत कुछ ऐसा ज्ञान मिल जाये जो आपके जीवन में आमूल चूल परिवर्तन ला दे।

यदि सचमुच आपको सुखी और सफल जीवन की शुरूआत करना हो तो इसे अवश्य पढ़ें।

इस कथानक का एक-एक पात्र अपने जीवंत आचार-विचार से आपको कुछ न कुछ ऐसा संदेश देगा, जो आपके लिए सुखद और सफल जीवन जीने को न केवल प्रेरित करेगा; बल्कि बाध्य करेगा और आपका जीवन सुखी हो जायेगा।

वस्तुतः सुखी जीवन के लिए जितनी जरूरत पैसे की है, उससे कहीं अधिक आवश्यकता मानसिक संतुलन की है; क्योंकि दुःख के मूल कारण दो हैं। पहला कारण है - **'अर्थ का अभाव'** और दूसरा कारण है **'सही सोच की कमी।'** जिसका सोच सही है, उसे धन की कमी नहीं रहती; क्योंकि सही सोच से पुण्यार्जन होता है और पैसा पुण्य से ही आता है।

देखो, परिश्रम तो सभी करते हैं; पर पुण्य के बिना परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। परिश्रम तो श्रमिक अधिक करते हैं पर पैसा एयरकंडीसन में बैठे इंजीनियर आदि अधिकारियों को अधिक मिलता है।

एक बार मैं एक पुरस्कार वितरण के समारोह में एक स्कूल में गया। वहाँ यद्यपि बालक छोटे थे; पर साथ में पालक भी आये थे। छोटे-बड़े सभी कुछ न कुछ नवीन प्रेरणा लेकर जाँय, इस पवित्र भावना से मैंने अपने अध्यक्षीय भाषण में एक प्रश्न पूछा - हम सब जितने यहाँ बैठे हैं क्या सबकी 'शकल' एक जैसी है? उत्तर था - नहीं।

फिर मैंने पूछा - ''क्या हम सबकी 'अकल' एक जैसी है?''

फिर उत्तर मिला 'नहीं।'

मैंने और भी ऐसे ही दो तीन प्रश्न पूछे - ''क्या सब एक जैसे अमीर या गरीब हैं? सबके माता-पिता एक जैसे स्वभाव के हैं? सबके घरों में एक जैसी सुख-सुविधायें हैं?

सबका एक ही उत्तर था नहीं, नहीं, नहीं।

मैंने अन्त में पूछा - ''इस असमानता का कारण क्या है'' - एक आठ वर्ष के बालक ने हाथ उठाकर कहा - मैं बोलूँ? अनुमति पाकर वह बोला - ''इसमें सोचने की क्या बात है जिसने पिछले जन्म में जैसा पुण्य-पाप किया, उसके फल के अनुसार उसे सुखद-दुःखद संयोग इस जन्म में मिले। एक बच्चा राजकुमार की तरह पलता है, पैदा होते ही चाँदी के पालने में झूलता, सोने की चम्मच उसके मुँह में होती। दूसरा फुटपाथ पर पैदा होता, होश संभालते ही भीख का कटोरा हाथ में होता, अभाव में जीता, एक दिन फुटपाथ पर ही मर जाता। जन्मजात यह अन्तर स्पष्ट बताता है कि व्यक्ति अपने भले-बुरे कर्मों का ही फल भोगता है।

अत: यदि हम आर्थिक और मानसिक सुख चाहते हैं तो हमें सत्य का साथ देना होगा, सदाचारी जीवन जीना होगा। ऐसे शुभ काम करने होंगे, जिनसे पुण्यार्जन होता है और निर्दयता, बेईमानी छल-कपट धोखाधड़ी जैसे पाप परिणामों से बचना होगा।

ऐसा करने से धनादि के अनुकूल संयोग तो मिलेंगे ही, मानसिक संतोष भी मिलेगा। घर-बाहर में विश्वास बढ़ेगा और हम यशस्वी जीवन जीने के साथ तन-मन एवं धन से भी सुखी होंगे।''

यदि इन सबका प्रेक्टीकल रूप देखना हो तो यह पुस्तक अवश्य पढ़ें।

- अध्यात्म रत्नाकर पण्डित रतनचन्द भारिल्ल